सरल ब्रह्मविद्या शास्त्र

महंत तपस्वीन्द्र शास्त्री तलेगावकर
श्रीक्षेत्र रितपुर, (अमरावती)

प्रकाशक
म. तपस्वीन्द्र शास्त्री तलेगावकर
श्रीक्षेत्र रितपुर, (अमरावती)

प्रथम संस्करण
अप्रैल, १९५८
मूल्य दो रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड दिल्ली

त्वदीयं वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पये

लेखक की ओर से

श्रीजयकृष्णीपंथ के प्रवर्तक भगवान् श्रीचक्रधर जी के उपदेश मूल में मराठी भाषा के 'सूत्रपाठ' नामक ग्रंथ में हैं, जिसको ब्रह्मविद्या शास्त्र कहा जाता है। सूत्रपाठ के तत्त्वज्ञान-विषयक नव प्रकरणों के मूल मराठी सूत्रों का सरल हिन्दी में शब्दार्थ तथा भावार्थ देकर लक्षण-स्थल (भाष्य) तथा लक्षण-बंद (महाभाष्य) के संक्षिप्त भावानुवाद के साथ मैं यह सरल ब्रह्मविद्या शास्त्र मराठी भाषा से अनभिज्ञ उत्तर भारत के अनुयायियों के लाभार्थ प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशित कर रहा हूं। विषय गहन-गूढ़-गंभीर है। उसे सरल तथा स्पष्ट बनाने की मैंने अपनी ओर से पूरी कोशिश की है, परंतु जिस विषय का बड़े-बड़े भाष्यकार तथा महाभाष्यकार भी पार नहीं पा सके, उसको मेरे जैसा अल्पज्ञ नवाभ्यासी लेखक कहां तक सरल और स्पष्ट करता? परम पूजनीय पंडित प्रवर महंत श्री प्रभाकर शास्त्री यक्षदेव महानुभाव ने जटिल दार्शनिक सिद्धान्तों में अपनी सम्मति देकर मुझे उपकृत किया है। उसी प्रकार श्रद्धेय श्री विजयकुमार जी पुजारी ने भाषा तथा भाव की दृष्टि से हस्तलिखित कापी का संशोधन करके मेरी सहायता की है। इन दोनों महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

सरल ब्रह्मविद्या शास्त्र के प्रकाशनार्थ पंथानुरागिनी श्रीमती रामलुभाई सेठी, श्रीमती गोमतीदेवी साहनी तथा श्रीमती भाग-

वंती देवी ने आर्थिक सहायता दी है। वे धन्यवाद की पात्र हैं। मैं उनका कृतज्ञ हूं।

यदि जयकृष्णी पंथ के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में प्रस्तुत पुस्तक मराठी भाषा से अनभिज्ञ,पंथानुयायियों कीअल्पातिअल्प भी सहायता कर सकी, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

श्रीजयकृष्णी प्रतिनिधि सभा के २३वें अधिवेशन के अवसर पर पुस्तक प्रकाशित करने की हार्दिक इच्छा के फलस्वरूप शीघ्रता तथा समयाभाव के कारण मैं महावाक्य, निर्वचन तथा असतिपरि इन तीन प्रकरणों का भावार्थ सविस्तर लिख न सका। इसके लिये मैं पाठकों से क्षमा-याचना करता हूं।

—तपस्वीन्द्र तलेगावकर
२५-४-५८

।। श्रीचक्रधरः शरणम् ।।

।। श्रीचक्रधरोक्त सूत्रपाठ ।।

।। नव प्रकरण ।।

पूर्वी

पूर्वी का प्रकरणवश--श्री माहिमभट्ट जी महानुभाव जयकृष्णी पन्थ के एक प्रमुख विद्वान् महात्मा थे। वह 'लीला चरित्र' तथा 'श्रीगोविन्द प्रभु चरित्र' के प्रसिद्ध लेखक थे। आज से सात सौ वर्ष पूर्व उनका जन्म दक्षिण प्रान्त के सराला नामक गांव में ब्राह्मण जाति में हुआ था। उन्होंने गणपत आपयो नाम के विद्वान् ब्राह्मण से कई ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन दिनों प्रभाकर नामक ग्रन्थ महाराष्ट्र में पढ़ाने की प्रथा न थी। इसलिए माहिमभट्ट जी ने तेलंग प्रान्त में जाकर उस ग्रन्थ का तथा और भी बहुत से शास्त्रों का अध्ययन किया था। उस समय उनके समान उस प्रान्त में कोई विद्वान् नहीं था। सब विद्वानों ने उनकी विद्वत्ता का लोहा मान लिया था। विद्या पारंगत होकर जब वह सराला में आये, तो उनमें अभिमान अत्यधिक बढ़ चुका था। वह दिन में मशाल जलाकर चलते थे और पांव में तृण बांधे रहते थे। उनका कहना था कि गगन में वह सूर्य है और विद्वानों में मैं सूर्य हूं। इस प्रान्त के सभी विद्वान् मेरे सामने इस तृण के समान तुच्छ हैं। एक दिन गणपत आपयो से शास्त्रार्थ करते हुए

उन्होंने कहा था कि यद्यपि आप अब मेरी विद्वत्ता के सामने टिक नहीं सकते, तो भी आपके प्रश्नों पर मुझे थोड़ा विचार करना पड़ता है ।

गणपत आपयो शांत स्वभाव के तथा निरभिमान प्रकृति के पुरुष थे। माहिमभट्ट की कटु उक्ति से रुष्ट न होकर उन्होंने कहा—"माहिमभट्ट, डोमेग्राम में श्रीचक्रधर स्वामी रहते हैं। यदि आप उनके दर्शन करेंगे, तो आपकी विद्वत्ता में चार चान्द लग जायेंगे।" माहिमभट्ट जी ने पूछा—"क्या वह संस्कृत के प्रकांड पण्डित हैं ?" गणपत आपयो ने कहा—"यह तो मैं नहीं जानता। परन्तु मराठी भाषा पर उनका अतीव प्रभुत्व है।" माहिमभट्ट जी ने कहा—"बहुत अच्छा ! आपका जब जाना होगा, मुझे भी साथ ले चलियेगा।"

एक दिन किसी राजकीय कार्य से गणपत आपयो को देगांव जाना था। उन्होंने माहिमभट्ट जी को साथ चलने के लिये कहा। जब दोनों भामाठान गांव में पहुंचे, तो पिंपले वामनभट्ट को कहीं जाने की तैयारी में देखकर गणपत आपयो ने पूछा—"विप्रवर ! आप कहां जा रहे हैं ?" वामनभट्ट बोले—"मैं भगवान् श्री चक्रधर जी के लिये भोजन लेकर डोमेग्राम जा रहा हूं।" गणपत आपयो ने कहा—"बहुत अच्छा ! आप माहिमभट्ट जी को साथ लेते जायें, क्योंकि मुझे देगांव जाना है।" और इस प्रकार माहिमभट्ट जी वामनभट्ट के साथ डोमेग्राम की ओर चल पड़े। मार्ग में वह शास्त्रार्थ की भूमिका पर मन-ही-मन सोचते रहे।

जब दोनों डोमेग्राम में पहुंचे, तो पिंपले वामनभट्ट भोजन

का सामान श्री नागाम्बिका देवी को देकर स्वयं भगवान् श्री-चक्रधर को साष्टांग प्रणाम करके पानी लाने गोदावरी गंगा पर चले गये। उस समय श्रीचक्रधर जी जीवात्मा अविद्या आदि बंधनों से छूटकर ईश्वर के नित्यानन्द को कैसे प्राप्त करता है, इस विषय पर मार्मिक भाषण दे रहे थे। माहिमभट्ट जी काया प्रणाम करके श्रोताओं में चुपचाप बैठकर भगवान् का उपदेशा-मृत पान करने लगे। वह श्रीचक्रधर स्वामी के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर आत्मविस्मृत से होगये। तब भगवान् ने माहिम भट्ट जी को संबोधित करके पूछा—"विद्वद्वर!" **अत्यंत संसृति छेद होय ऐसी कांही प्रतीति आत ?"** अर्थात् क्या आप बता सकते हैं कि जीवात्मा महार्णव अविद्या आदि बंधनों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ?"

माहिमभट्ट जी ने कहा—"इसमें कौन सी बड़ी बात है ? जीवात्मा को कर्म करना चाहिये, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है **"नहि कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"** अर्थात् कोई भी जीवात्मा एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म करने से अंतःकरण शुद्ध होता है। अंतःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति मिलती है। **"विचा-रान्मोक्षो भवति।"** श्रीचक्रधर जी ने पूछा—"कर्म कितने प्रकार के होते हैं ? माहिमभट्ट जी ने कहा—"कर्म छह प्रकार के होते हैं। यजन अर्थात् यज्ञ करना, याजन अर्थात् दूसरे से यज्ञ करवाना, अध्ययन अर्थात् स्वयं पढ़ना, अध्यापन अर्थात् दूसरे को पढ़ाना, दान देना और प्रतिग्रह अर्थात् स्वयं दान लेना।" इस पर भगवान् श्रीचक्रधर जी ने कहा "कुछ नित्य कर्म होते

हैं और कुछ नैमित्तिक। नित्य कर्मों से कर्मान्तर्गत होने वाले हिंसा आदि पापों का नाश होता है और नैमित्तिक सकाम कर्मों से देवता के सुख फल मिलते हैं। फिर ऐसे कौन से कर्म बचते हैं जिनसे अंत:करण शुद्ध होता है ?" इस प्रश्न का माहिमभट्ट जी उत्तर दे न सके। वह मन में सोचने लगे कि गणपत आपयो का कहना वास्तव में ठीक ही है। वह फिर संस्कृत भाषा में बोलने लगे। किन्तु संस्कृत भाषा पर भी श्रीचक्रधर जी का अधिकार देखकर वह अवाक् रह गये। तब श्रीचक्रधर जी की ओर से पुनः उसी प्रश्न के दुहराये जाने पर माहिमभट्ट जी ने कहा—"अच्छा, आप ही बतलाइये।" इस पर भगवान् श्रीचक्रधर जी ने पूर्वी प्रकरण का निरूपण किया।

पूर्वी नामकरण का हेतु—पूर्वी शब्द का अर्थ है पहिला। माहिमभट्ट जी के प्रति भगवान् ने सबसे पहिले इसी प्रकरण का उपदेश किया था। अतः इसे पूर्वी कहा है।

सूत्रपाठ का पहला प्रकरण यही है। अत: इसका नाम पूर्वी है। सूत्र—

> **सृष्टि मध्यें कव्हनें करणें मुंचिजेना एकें परमेश्वरें वीण, तोचि परमेश्वर निर्वेव निराकार असे, पर कृपा वशें सावेव साकार होय, अवतरे, आपुलें सन्निधान दे, ते दास्य मोचक।१।**

शब्दार्थ—सृष्टि—ब्रह्मांड के, मध्यें—बीच, कव्हनें—जीव और देवता की, करणें—भक्ति से, मुंचिजे—मुक्ति, ना—नहीं, (मिलती) एकें—एक, परमेश्वरें—परमेश्वर (अवतार

की भक्ति के) वीण—बिना, तोचि—वही, परमेश्वर—त्र्यंश स्वरूप, निर्वेव—निरवयव, निराकार—आकृतिरहित, असे—है, पर—परन्तु, कृपा वशें—कृपा शक्ति के वश होकर, सावेव—सावयव, साकार—आकृतिवाला, होय—होता है, अवतरे—"अवतरन्तिजनाः येन सः अवतारः" अर्थात् जो जीवों को मुक्ति देता है, आपुलें—अपनी श्रीमूर्ति का, सन्निधान—समीपवास, दे—देता है, ते—वह, दास्य—सेवा, मोचक—मुक्ति दिलवाती है।

भावार्थ—इस संसार में ईश्वर अवतार की अनन्य भक्ति से ही जीवात्मा नित्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है और देवता आदि किसी भी पदार्थ की भक्ति से मुक्ति नहीं मिलती। यद्यपि ईश्वर निर्गुण निराकार है, तो भी वह अपनी कृपा के अधीन होकर अपना विशुद्ध ज्ञान जीवों को देने के लिये मनुष्याकार में अवतीर्ण होता है और अपने भक्तों को अपने पास रखकर अपनी सेवा कराने का अवसर प्रदान करता है। ईश्वरावतार की सेवा से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है।

श्रीचक्रधर स्वामी **'द्वैतवाद'** मत के प्रवर्तक तथा समर्थक थे। उनके मत में **ईश्वर, जीव, देवता** तथा **प्रपंच** ये चारों अनादि स्वतःसिद्ध स्वतंत्र पदार्थ हैं। इन चार पदार्थों का तात्विक विवेचन सूत्रपाठ में किया हुआ है, जो मराठी भाषा में है। महानुभाव पन्थ के विद्वानों ने इन सूत्रों पर सविस्तर भाष्य तथा महाभाष्य लिखे हैं।

इस आरंभिक पूर्वी प्रकरण में जीव ईश्वर अवतार की अनन्य भक्ति से तथा निष्काम कर्मों से पुनर्जन्म के चक्र से छूट सकते

हैं, इस विषय का प्रतिपादन है। जीव स्वरूप निरानंद है।परन्तु **"जीव सर्वाधिकार्या"** (सूत्रपाठ) अर्थात् जीव 'सर्वाधिकारी' होने से बंध-मुक्त होकर ईश्वरीय आनंद का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। अतः परम दयालु ईश्वर अपनी प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना कराते हैं। **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।"** (गीता) अर्थात् मुझ ईश्वर की इच्छा से चैतन्य माया इस चराचर सृष्टि की रचना करती है। और **"परमेश्वर प्रवृत्ति माया सृष्टि संहार करी"** (सूत्रपाठ) अर्थात् परमेश्वर की प्रेरणा से ही माया सृष्टि की रचना तथा संहार करती है। **"तमोनिमग्न जीव माया स्वरूपीं असत"** (सूत्रपाठ) अर्थात् सृष्टि रचना के पूर्व जीव, जो अनादि और अनंत हैं, माया के तम स्वरूप में निरानंद अवस्था में पड़े हुए थे।

"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्य हरागमे।" (गीता) अर्थात् सृष्टि रचना के समय माया के अव्यक्त तम स्वरूप से जीवों को निकाला जाता है, जो शरीर धारण करके सृष्टि में व्यक्त होते हैं।

"नहि कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।" (गीता)

इस भगवदुक्ति के अनुसार जीव कर्म करने लगते हैं। और सर्वाधिकारी होने के कारण जीवों को कर्म निष्पति होती है। इस प्रकार निष्पन्न कर्मों के लेप (चिन्ह) जीवस्वरूप के आश्रित अविद्या पर अंकित हो जाते हैं। जिन्हें भोगने के लिये जीवों को अनेक योनियों (शरीरों) में जन्म लेना पड़ता है। चूंकि दीन-बन्धु ईश्वर जीवों की भलाई चाहते हैं, अतः उनके प्रेमपाश में

बंधकर वे स्वयं भी बार-बार व्यक्त होकर इस सृष्टि में अवतार धारण करते हैं **"जीवां चा बंध मोक्षी परमेश्वर क्रीडति ।"** अर्थात् ईश्वर जीवों को कर्म बंधन से मुक्त करने के लिये ज्ञान देते हैं। **"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति भारत। अभ्युत्थान मधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥** (गीता) तथा **"सृष्टि मध्यें परमेश्वर अवतरति ।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् सृष्टि में ईश्वर अवतार धारण करते हैं।

जीव एक कर्मफल (शरीर) से दूसरे कर्मफल में स्वयं जाने में असमर्थ हैं। अत: ईश्वरीय विधान के अनुसार देवता ही अपना अपना इन्हें कर्मफल भुगवाती हैं। जीव विषयक सभी कार्य देवताओं को ही करने होते हैं। क्योंकि **"जीव अर्जक देवता फळ दाती ।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् जीव कर्मों का अर्जन करते हैं और देवताएं उन्हें कर्मों का सुख-दु:ख फल भुगवाती हैं।

जीव स्व स्वरूपाश्रित रह नहीं सकते। **"जीव मायेसि अधीन होय, कां प्रपंचासि अधीन होय मध्यें असणेंचि नाहीं ।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् सृष्टि न होने पर जीव माया के तम स्वरूप के तथा सृष्टि में स्थूल प्रपंच के आश्रित रहते हैं। इन दो आश्रयों के विना जीव रह ही नहीं सकते।

जीव एक देशीय हैं। **"जीवें जे होवावे तेंचि होय"** (सूत्रपाठ) अर्थात् जीवस्वरूप एक ही कर्मफल में रहता है। किसी भी शरीर में जाने के पश्चात् जीवस्वरूप उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी शेष नहीं रहता।

"बंद्धमुक्त जीव ।" (सूत्रपाठ) अर्थात् ईश्वरीय ज्ञानानुसार

आचरण करने से जीव अविद्या आदि सभी बंधनों से मुक्त हो सकते हैं।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" (गीता) अर्थात् जीवों को कर्म करने का अधिकार है, कर्मफल का नहीं। क्योंकि कर्मफल जीवों को देवता भुगवाती हैं। अत: जीवों को निर्हेतुक अर्थात् निष्काम कर्म करने चाहिये। निष्काम कर्मों का फल देवता दे नहीं सकतीं। इस प्रकार आसक्ति रहित कर्म करने से जीव कर्म आदि बंधनों से मुक्त होकर सदा के लिये ईश्वर के नित्यानंद को प्राप्त कर सकते हैं। **"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।"** (गीता) अर्थात् ईश्वरीय मुक्ति को पाकर जीव सदा के लिये जन्म-मरण के बंधन से छूट जाते हैं। ईश्वरीय मुक्ति नित्य है, जहां से जीवों को फिर वापिस आना नहीं पड़ता।

"जीवेश्वरा स्वामी भृत्य-संबंध हा अनादिचा।" (सूत्रपाठ) अर्थात् अनादि काल से ईश्वर और जीवों का परस्पर स्वामी-सेवक संबंध चला आता है। इसलिये सर्वकाम परिपूर्ण निरीह ईश्वर परम करुणामय होने के कारण बार-बार अवतार धारण करके जीवों को दु:ख से छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं।

"जीव सर्वदोषांचे आले।" (सूत्रपाठ) अर्थात् जीवस्वरूप सब दोषों का कोश है। अनादि काल से जीव स्वरूपगत **'अनादि अविद्या'**, **'अज्ञान'**, **'अन्यथाज्ञान'**, **'जीवत्व'** ये दोष होने से तथा सृष्टि रचना के समय **'आद्यमल'** के लग जाने से जीव इन पांच दोषों के कारण ऊर्ध्वगति अर्थात् ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति की ओर जाने में ढिलाई करते रहते हैं। और **"अधमति, अधगति, अधरति।"** इस मतित्रय के कारण नीचे की ओर जाने का इनका

स्वभाव सा बन गया है । इसीलिये गीता में भगवान् श्रीकृष्ण को कहना पड़ा कि **"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।"** (गीता) अर्थात् मुक्ति पाने का प्रयत्न तो कोई एकाध माई का लाल ही कर सकता है ।

"जीव जैसा संगी ठेविजे तैसा ठाके ।" (सूत्रपाठ) अर्थात् जीवस्वरूप की यह विशेषता है कि वह जैसी संगति में रहते हैं वैसे बन जाते हैं । पानी तुम्हारा रंग कैसा, जिसमें मिलाओ वैसा । मल (सूक्ष्म प्रपंच) तथा स्थूल प्रपंच के संबंध से जीव अशुभ कर्म करने लग जाते हैं, जिनके कारण उन्हें महान् रौरव नरकों का दुःख भोगना पड़ता है । स्वामी (ईश्वर) उनकी भलाई का सदा प्रयत्न करता है ।

परन्तु **"जीव स्वार्थपर ।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् जीव स्वार्थी हैं । स्वार्थान्ध होने के कारण उन्हें अपनी भलाई बुराई का ज्ञान नहीं रहता, प्रत्युत **"जीव भणिजे दोष दर्शिया गा ।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् जीव दोषदर्शी हैं । इसी स्वभाव के कारण जीव अपने हित-चिन्तक के भी दोषों का अन्वेषण करने में लगे रहते हैं । अन्यथा ज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान के कारण ईश्वर में अनीश्वर बुद्धि और अनीश्वर वस्तुओं में ईश्वर बुद्धि की कल्पना करने लगते हैं । और इसीलिये अपने ध्येय से गिरकर तथा पथभ्रष्ट होकर वे चौरासी के फ़ेर में पड़ जाते हैं । अतः अन्यथाज्ञान आदि दोषों से बचकर जीवों को ईश्वर की शरण में जाकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि **"ज्ञान मोचक"** (सूत्रपाठ) अर्थात् ज्ञान ही मुक्ति दिलवाता है और **"जे जैसे असे ते तैसे जाणिजे तें ज्ञान ।"** (सूत्र-पाठ) अर्थात् जो जैसा है उसको वैसा ही जानना, यही यथार्थ ज्ञान

है। इसलिये यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य को अपना जन्म सफल बनाना चाहिये।

पंचकृष्ण

प्रकरणवश—ईश्वर अवतार की सेवा (भक्ति) से मुक्ति मिलती है। जब भगवान् श्रीचक्रधर जी ने यह उपदेश किया, तो माहिमभट्ट जी ने पूछा "भगवन् ! कृपया आप यह बतलायें कि हमें किसकी भक्ति करनी चाहिये ? इस पर भगवान् ने 'पंच-कृष्ण' प्रकरण का निरूपण किया।

नामकरण का हेतु—कर्षति सर्व पापेभ्यः इति कृष्णः। अर्थात् जो सब पापों से छुड़ाता है, उसे कृष्ण कहते हैं। **"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।"** (गीता) अर्थात् "हे अर्जुन ! मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूंगा। तुम किसी प्रकार का शोक मत करो।" इस भगवदुक्ति के अनुसार जब ईश्वर जीवों पर प्रसन्न हो जाते हैं, तब वे उन जीवों के अविद्या आदि कर्मों का नाश करके मुक्ति देते हैं। इस प्रकरण में वतलाये हुए पांचों अवतार ईश्वर के हैं और ये सभी ईश्वर अवतार जीवों को सब पापों से छुड़ाकर मुक्ति देने का सामर्थ्य रखते हैं। अतः इस प्रकरण का नाम 'पंचकृष्ण' रखा है। सूत्र—

जैसे द्वापरीं श्रीकृष्ण चक्रवर्ती ।१।

शब्दार्थ—जैसे—जिसप्रकार, द्वापरी—द्वापरयुग में, श्री-कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी, चक्रवर्ती—सम्पूर्ण ब्रह्मांड के स्वामी अर्थात् सर्वश्रेष्ठ।

भावार्थ—भगवान् श्रीचक्रधर जी ने माहिमभट्ट से कहा

कि द्वापर युग में वसुदेव तथा देवकी के यहां मथुरा नगरी में जो श्रीकृष्ण जन्मे थे, वे ईश्वर अवतार थे। अत: आप उनकी भक्ति करें, क्योंकि वे जीवों को मुक्ति दे सकते हैं। इस पर माहिम भट्ट जी ने कहा--"प्रभो! यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जी मुक्ति दे सकते हैं, परन्तु मैं तो आपके कथनानुसार ईश्वर अवतार के पास रहकर उनकी सेवा करने को उत्सुक हूं। श्रीकृष्ण जी तो अब उस रूप में विद्यमान् नहीं हैं। उनकी सेवा का लाभ तो मैं उठा नहीं सकता। इस पर श्रीचक्रधर जी ने कहा। सूत्र--

जैसे सिंहाद्रि श्रीदत्तात्रेय प्रभु ।२।

शब्दार्थ--जैसे--जिस प्रकार, सिंहाद्रि--सिंहाद्रि नाम के पर्वत पर, श्रीदत्तात्रेय--अत्रि ऋषि के पुत्र दत्तात्रेय, प्रभु--सर्व समर्थ।

भावार्थ--भगवान् ने कहा--"माहिमभट्ट! यदि आप साक्षात् मायापुर धारी ईश्वर अवतार के पास रहकर ही सेवा करना चाहते हैं, तो भगवान् श्रीदत्तात्रेय जी, जिन्होंने बद्रिकाश्रम में अत्रि ऋषि तथा सती अनुसूया देवी के यहां जन्म लिया था, आजकल सिंहाद्रि पर्वत पर खेल क्रीड़ा करते हैं, उनकी भक्ति करें। क्योंकि वे पूर्ण परब्रह्म उभयदर्शी ईश्वर अवतार हैं तथा जीवों को मुक्ति दे सकते हैं।" इस पर माहिमभट्ट जी ने कहा--"इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वे मुझे मुक्ति प्रदान कर सकते हैं, किन्तु इस कलियुग में तो वे अदृश्य रहते हैं। उनके मायापुर के दर्शन किसी भाग्यशाली को ही हो सकते हैं।" इसके उत्तर में श्रीचक्रधर स्वामी ने यह सूत्र कहा।

जैसे द्वारावतीए श्रीचांगदेव राउळ ।३।

शब्दार्थ—जैसे—जिस प्रकार, द्वारावतीए—द्वारका में निवास करने वाले, श्रीचांगदेव—भगवान् श्रीचांगदेवजी, चांग—सुन्दर, देव—ईश्वर। राउल—महाराज।

भावार्थ—श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा—"माहिमभट्ट! यदि यह बात है, तो जनक तथा जनकाइसा के पुत्र श्री चांगदेव महाराज, जिन्होंने द्वारका में क्रीड़ा की, ईश्वर के अवतार हैं और मुक्ति दे सकते हैं। यह सुनकर माहिमभट्ट जी ने कहा—"प्रभो! आपका कथन तो यथार्थ है, क्योंकि उनमें मुक्ति देने की शक्ति है। परन्तु उन्होंने कामाख्या नाम की हठयोगिनी के निमित्त अपना मायापुर छोड़ दिया है। अब वे उस रूप में विद्यमान नहीं है। इस पर भगवान् ने कहा। सूत्र—

जैसे ऋद्धिपुरीं श्री गुंडम राउळ ।४।

शब्दार्थ—जैसे—जिस प्रकार, ऋद्धिपुरीं—ऋद्धपुर में, श्री गुंडम—श्री गोविन्द प्रभु, राउळ—महाराज।

भावार्थ—भगवान् ने कहा कि ऋद्धपुर (जिला अमरावती, बरार) में श्री गुंडमराउल जी इस समय विद्यमान हैं, जिनका जन्म अनंतनायक तथा नेमाइसा के यहां मातुलग्राम में हुआ है। वे ईश्वर अवतार हैं तथा मुक्ति दे सकते हैं। आप उनकी सेवा कर सकते हैं। यह सुनकर माहिमभट्टजी ने कहा—"बहुत अच्छा!" कुछ समय के पश्चात् वे फिर बोले—"प्रभो! सन्निधान से आपका क्या तात्पर्य है?" तब श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा कि **'जैसे हे'** अर्थात् जिस प्रकार हम आपके पास बैठे हैं।सूत्र—

जैसे प्रतिष्ठानी श्रीचांगदेव राउळ।५।

शब्दार्थ—जैसे—जिस प्रकार, प्रतिष्ठानी—पैठन गांव में, श्रीचांगदेव—जिनका दूसरा नाम श्रीचक्रधर है, राउल—महाराज।

भावार्थ—जिस प्रकार पैठन में श्रीचक्रधर स्वामी हैं। भगवान् श्रीचक्रधर जी का अवतार गुजरात प्रान्त के भड़ोच नगर में विशालदेव तथा मालनदेवी के यहां हुआ था। किन्तु वे ईश्वर अवतार हैं, इस बात का प्रचार पैठन से हुआ है। अतः सूत्र (वचन) में पैठन नाम लिखा है। इस प्रकार उपदेश सुनकर माहिमभट्ट जी को यह विश्वास हो गया कि श्रीचक्रधर जी ईश्वर अवतार हैं और मैं जीव हूँ। यदि ईश्वर अवतार की जीव अनन्य भक्ति करें, तो मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

अन्य व्यावृत्ति (देवता-पदार्थ)

अन्य व्यावृत्ति जिसमें ईश्वर से अन्य (दूसरे पदार्थों) की व्यावृत्ति (भिन्नता) हो।

प्रकरणवश—रितपुर से वापिस आकर श्रीनागदेव जी भगवान् श्रीचक्रधर जी की सेवा में सावखेड़ा गांव में रहते थे। एक दिन सायंकाल के पूजावसर के समय भगवान् ने श्री नागदेव जी से पूछा—"क्यों नागदेव, आप हम में, श्रीगोविन्द प्रभु महाराज में तथा अपने गुरु महात्मा रामदेव में क्या अन्तर समझते हैं? श्रीनागदेव जी ने कहा—"प्रभो! मेरे लिये तो आप तीनों भी पूजनीय हैं। अतः मैं तो कोई अन्तर नहीं मानता।

श्रीनागाम्बिकादेवी, जो वहीं थीं, बोलीं—क्या खूब ? बलिहारी आपकी बुद्धि पर।"

श्रीचक्रधर जी ने कहा—नागदेव ! भगवान् श्रीगोविन्द प्रभु जी निर्गुण परब्रह्म के साक्षात् सर्वज्ञ सर्वसाक्षी ईश्वर अवतार हैं और रामदेव जी अल्पज्ञ साधारण सदोष जीव हैं। फिर आपने दोनों को समान कैसे माना है ? ईश्वर नित्य-मुक्त दीन-बन्धु और कृपालु हैं। जीव स्वार्थी, अज्ञानी और बंध-मुक्त हैं।" यह सुनकर नागदेव जी ने भगवान् से क्षमा मांगी। जीव, देवता तथा ईश्वर इनके पारस्परिक अन्तर को समझाने के लिये श्रीचक्र-धर स्वामी ने नागदेव के प्रति अन्यव्यावृति, युगधर्म, विद्यामार्ग संहार और संसरण—इन पांच प्रकरणों का निरूपण किया।

करंजखेड़ गांव में भगवान् श्रीचक्रधर जी का निवास था। दायंबा भगवान् की सेवा में रहा करते थे। बैठने-उठने आदि सभी बातों में वे श्रीचक्रधर जी का अनुकरण करते थे। एक दिन भग-वान् ने कहा—"भोजराज ! आजकल आपकी वृत्ति में अभि-मान आ गया है। आंखें आकाश पर चढ़ी रहती हैं।" कुछ क्षण बाद भगवान् ने पूछा—"क्यों दायंबा ! दूध और लस्सी देखने में एक से श्वेत हैं। सोना और पीतल भी पीले रंग के कारण एकसे प्रतीत होते हैं। इस विषय में आपका क्या विचार है ?" दायंबा ने कहा—"प्रभु, सोना सोना है और पीतल पीतल। दूध दूध और लस्सी लस्सी। उनमें परस्पर समानता कैसे हो सकती है ?" इस पर श्रीचक्रधर जी ने दायंबा के प्रति 'अन्य व्यावृति' प्रकरण का निरूपण किया और कहा—"भोजराज ! चैतन्य देवता से भी श्रेष्ठ जो परमेश्वर है, उस ईश्वर के अवतार

के साथ आप समानता का व्यवहार करते हैं। क्या आप इतना भी नहीं समझते कि अपने से बड़ों के साथ समानता का बर्ताव नहीं करना चाहिये ?"

देवता पदार्थ—देवता शब्द दिव् धातु से बनता है, जिसका अर्थ द्युतिमान् होता है।

भगवान् श्रीचक्रधर जी ने देवता पदार्थ नित्य, अनादि, चेतन तथा स्वतः सिद्ध स्वतंत्र माना है। एक ब्रह्मांड की देवताएं "इक्यासी करोड़ एक लाख पचीस हजार दस" हैं, जो नौ गुटों में विभाजित हैं। वे परस्पर छोटी बड़ी होती हैं। बड़ी देवता की इच्छा से छोटी देवताएं कार्य करती हैं। ये राजस तामस हैं। वे अपने-अपने स्वरूपाश्रित होती हैं। उन्हें जीवों के कर्म-लेप का ज्ञान होता है। उनके स्वरूप में ज्ञान, सुख, सामर्थ्य प्रकाश तथा ऐश्वर्य ये पांच प्रकार की शक्तियां होती हैं।

'देवता स्वरूपें ज्ञाप्तानंद रूपें।' (सूत्रपाठ) अर्थात् देवता-स्वरूप में ज्ञान तथा सुख है। यद्यपि देवता स्वरूप में ज्ञान बतलाया है, तथापि उनका ज्ञान यथार्थ नहीं है। **'देवतेचें मलाधार ज्ञान।'** (सूत्रपाठ) अर्थात् देवता का ज्ञान मल के आश्रित है, क्योंकि देवताएं जीव स्वरूप को देख नहीं सकतीं। वे जीवस्वरूपाश्रित अपने अपने मलों को ही जीव कहती हैं। इसी प्रकार **'देवतेसि आपणया खालौतें अपरोक्ष।'** तथा **'ऊंच असे तो तलचील देखे।'** (सूत्रपाठ) अर्थात् बड़ी देवता छोटी देवताओं को देख सकती है। किन्तु **'ऐल पैलाचें अस्तित्व जाणें।'** (सूत्रपाठ) अर्थात् छोटी देवता बड़ी देवता को देख नहीं सकती। उसे बड़ी देवता का अस्तित्व ज्ञान होता है।

देवताओं का सुख भी दुःख मिश्रित होता है। **'देवतेसि खेद अल्हाद आत।'** (सूत्रपाठ) अर्थात् प्रपंच संबंध से देवताओं को दुःख और सुख होता है।

देवता स्वरूप नित्यबद्ध हैं। अतः इन्हें जीवों के समान कर्मलेप नहीं लगते। तथा सर्वाधिकारी न होने से ईश्वर के शाश्वत पद को प्राप्त नहीं होते।

देवताओं के विभाग—'देवता हो जाणें उरो जाणें।' तथा **'देवतेसि लीला विग्रह धारयित्व आत।'** (सूत्रपाठ) अर्थात्

देवता स्वरूप एक ही समय में कई रूपों में विभक्त हो सकता है और मूलरूप में भी बचा रहता है। तथा इनके अवतार भी होते हैं। सृष्टि रचना के पश्चात् देवता स्वरूप के दो विभाग होते हैं, जिन्हें वोलगनी और ब्रह्मांडस्था कहते हैं।

वोलगनी—जो देवता स्वरूप शरीर धारण करके ईश्वर अवतार के पास अंगरक्षक सेवक के समान सदा सेवा तथा आज्ञा परिपालन के लिये तत्पर रहता है। उसे **'वोलगनी'** कहते हैं। प्रत्येक देवता की एक एक वोलगनी ईश्वर अवतार के पास रहती है। ये मूल स्वरूप के समान ही शक्ति संपन्न होती हैं। छोटी देवता का बड़ी देवता के स्वरूप में न जाने का नियम इन्हें भी लागू होता है। अतः कोई भी वोलगनी अपने स्वरूप से बाहर ऊंची देवता के स्वरूप में जा नहीं सकती।

ब्रह्मांडस्था—जो देवता स्वरूप शरीर धारण करके सृष्टि में ईश्वरीय विधानानुसार कार्य करता है उसे ब्रह्मांडस्था कहा है। प्रत्येक देवता की एक-एक ब्रह्मांडस्था होती है। इनके पंच-प्रकार कामचलाऊ होते हैं। ऊंचे स्वरूप में न जा सकने का

नियम इन्हें भी लागू होता है। इनसे विग्रह, पिंडस्था तथा सामर्थ्य ये तीन विभाग विभक्त होते हैं।

विग्रह---देवता अवतार को विग्रह कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं ज्ञान-विग्रह, अज्ञान-विग्रह, तथा शापदग्ध विग्रह।

पिंडस्था---देवता के उस अंश को कहते हैं, जो सूक्ष्म रूप से मनुष्य शरीर में मेद-मांस के आश्रित रहता है। उसे ब्रह्मांडस्था से आने और जाने का ज्ञान होता है। प्रत्येक मनुष्य शरीर में प्रत्येक देवता की एक-एक पिंडस्था होती है।

सामर्थ्य---देवता की उस शक्ति को सामर्थ्य कहते हैं, जो प्रतिमा तथा इन्द्रियों में कार्य करता है। यह जड़ है। इसे ब्रह्मांडस्था में लीन होने का ज्ञान होता है। सूत्र---

कर्मभूमिच्या देवता होति, पर परमेश्वर नव्हेति।१।

शब्दार्थ---कर्मभूमि, च्या---की, देवता, होति---हैं, पर---परन्तु, परमेश्वर, नव्हेति---नहीं हैं।

भावार्थ---कर्मभूमि की तेरह करोड़ देवताएं हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं।

श्रीचक्रधर स्वामी ने सूत्रपाठ में कहा है **"हिमासेतु मध्यें पांच शतें कर्मभूमि।"** अर्थात् हिमालय और रामेश्वर सेतु के बीच पांच सौ योजन कर्मभूमि है। कर्मभूमि की अधिष्ठात्री देवताओं को भी कर्मभूमि कहा गया है। देवता स्वरूप चेतन होने के कारण उन्हें चेतन कर्मभूमि तथा प्रकृति (प्रपंच) जड़ होने के कारण उसे जड़ कर्मभूमि कहा गया है। मनुष्य शरीर में कर्मों की निष्पत्ति होने के कारण उसे भी कर्मभूमि कहा है। जड़

कर्मभूमि के समान चेतन कर्मभूमि का स्वरूप विकास भी पांच सौ योजन है। ये अगाध जल में भव्य मन्दिर बनाकर वस्त्र अलंकारों से सुसज्जित होकर स्त्री-पुरुष के नाते दो-दो मिलकर रहती हैं। तीर्थ, क्षेत्रादि धर्म कनिष्ठतया आचरण करने से इनकी प्राप्ति तथा सुखफल होते हैं। यह गुट सब से छोटा और पहिला है। छोटे गुट की देवताओं से बड़े गुट की देवताओं के स्वरूप का विकास दस गुना बड़ा होता है। किन्तु किसी भी गुट में छोटी-बड़ी देवताओं के स्वरूप का विकास समान ही होता है। निम्न गुट की देवता अपनी स्वरूप मर्यादा से बाहर उच्च गुट की देवता स्वरूप में जा नहीं सकती।

कर्मभूमि में मनुष्य शरीर सम्पूर्ण पिंडस्थाओं से युक्त हो इसलिये यहां की सबसे छोटी यक्षिणी देवता के भी स्वरूप का विकास उस गुट की बड़ी देवताओं के बराबर ही होता है। छोटी देवता की अपेक्षा बड़ी देवता के पंचप्रकार आठ गुना अधिक होते हैं तथा स्वरूप भी सूक्ष्म होता है। बड़ी देवता का छोटी देवता पर ऐश्वर्य होता है, अतः छोटी देवता उसे अपने से श्रेष्ठ मानती है, परन्तु परमेश्वर नहीं। ऐश्वर्यादि से युक्त होने पर भी देवताएं ईश्वर अवतार के समान जीवों को बोध (ज्ञान), बोधशक्ति तथा देहविद्या आदि दे नहीं सकतीं तथा जीवों की अविद्या और कर्मलेपों का भी विनाश कर नहीं सकतीं। देवताओं में जीवों को कर्मफल से प्राप्त सुख-दुःख भुगवाने की शक्ति है, परन्तु कर्मफल से प्राप्त भोग को घटाने बढ़ाने की शक्ति उनमें नहीं।

ऐश्वर्य के समान देवतास्वरूप का ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं,

क्योंकि देवताएं परस्पर अपने स्वरूप का विकास, सूक्ष्मता तथा ज्ञानादि पंचप्रकारों की अधिकता और न्यूनता को जानती नहीं। कर्मभूमि से स्वर्ग तक के फलियों (देवता-सुख-प्राप्त जीवों) को "हमारा यहां से पतन होगा" यह भय बना रहता है। उन्हें कर्म-लेप का ज्ञान नहीं होता। सूत्र—

अष्टौदेवयोनि देवता होति पर परमेश्वर नव्हेति।२।

शब्दार्थ—अष्टौदेवयोनि—इस नाम की, देवता—देवताएं, होति—हैं, पर—परन्तु, परमेश्वर—ईश्वर, नव्हेति—नहीं हैं।

भावार्थ—अष्टौदेवयोनि नाम की देवता हैं परन्तु परमेश्वर नहीं।

यह देवताओं का दूसरा गुट है, जो कर्मभूमि के गुट से श्रेष्ठ है। संख्या इनकी भी तेरह करोड़ है। इनका स्वरूप-विकास पांच हजार योजन है—अर्थात् कर्मभूमि की देवताओं की अपेक्षा दस गुना अधिक है। इनकी आकृति में परस्पर विचित्रता पाई जाती है। इनके रहने का स्थान भी निश्चित नहीं। ये अपने स्वरूप के आश्रित हीरहती हैं। देवता पदार्थ के लिये पूर्व कथित सभी नियम इन्हें लागू होते हैं। इनके प्रापंचिक शरीर (मूर्तियां)अपने स्वरूपाश्रित रहते हैं। 'सूत्र—

अंतराळीचे गंधर्व देवता होति,पर परमेश्वर नव्हेति।३।

शब्दार्थ—अंतराली—अंतरालय, गगन, चे—के, गंधर्व—इस नाम के गायन करने वाले, देवता—देवताएं, होति—हैं पर—परन्तु, परमेश्वर—ईश्वर, नव्हेति—नहीं हैं।

भावार्थ—अंतरालय में रहने वाले गंधर्व नामक देवता हैं,

परन्तु परमेश्वर नहीं। यह तीसरे गुटका नाम है। इस गुट में भी तेरह करोड़ देवताएं हैं। इनका स्वरूप-विकास पचास हजार योजन है। इनका भी रहने का स्थान निश्चित नहीं। ये भी अपने स्वरूप आश्रित ही रहती हैं। गाने वाले को गंधर्व कहते हैं। ये गाती हैं। और सभी नियम पूर्ववत् हैं।

इन तीनों स्थानों की देवताएं कलियुग की अधिष्ठात्री हैं। तीर्थ क्षेत्रादि धर्माचरण से इनकी प्राप्ति तथा सुख फल मिलते हैं। इनके प्रापंचिक शरीर स्व स्वरूपाश्रित रहते हैं। सूत्र—

स्वर्गीचे इन्द्र चन्द्रादिक देवता होति,पर परमेश्वर नव्हेति।४

शब्दार्थ—स्वर्गीचे—स्वर्ग के, इन्द्र चन्द्र आदिक—इन्द्र, चन्द्र आदि नाम के, देवता, होति—हैं, पर—परन्तु, परमेश्वर, नव्हेति—नहीं हैं।

भावार्थ—स्वर्ग के इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य आदि देवता हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं। यह चौथे गुट का नाम है। उनका स्वरूप-विकास पांच लाख योजन है। यहां की इन्द्र, चन्द्र और सूर्य ये तीन प्रमुख देवताएं हैं। एक-एक का ग्यारह-ग्यारह करोड़ परिवार है। यहां की कुल तेत्तीस करोड़ देवताएं हैं। इनके निवास स्थान का नाम स्वर्ग है। स्वर्ग शब्द सुख अर्थ में भी आता है,परन्तु यहां वह अर्थ नहीं। ये द्वापर युग की अधिष्ठात्री हैं। यज्ञ धर्म के आचरण से इनकी प्राप्ति होती है। पूर्व के सभी नियम इनको भी लागू हैं। इनकी प्रापंचिक मूर्तियां अपने स्वरूपाश्रित रहती हैं। सूत्र—

कैलास वैकुंठीचे हरि हर ब्रह्मादिक देवता होति पर परमेश्वर नव्हेति ।५।

शब्दार्थ——कैलास वैकुंठी चे——कैलास, वैकुंठ के, हरि——विष्णु, हर——महादेव, ब्रह्मा——ब्रह्मदेव, आदिक——आदि, देवता, होति——हैं, पर——परन्तु, परमेश्वर, नव्हेति——नहीं हैं ।

भावार्थ——कैलास, वैकुंठ तथा सत्यलोक के महादेव, विष्णु तथा ब्रह्मा देवता हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं । यह पांचवें गुट का नाम है । इस गुट में ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ये तीनों प्रमुख हैं । एक-एक का तीन-तीन करोड़ परिवार है । (यहां की कुल नौ करोड़ देवताएं हैं ।) इनका स्वरूप-विकास पचास लाख योजन है । ये त्रेता युग की अधिष्ठात्री हैं । माता, पिता आदि की भक्ति से इनकी प्राप्ति तथा सुख फल मिलते हैं । सभी देवताएं एक दूसरे से छोटी-बड़ी होती हैं, परन्तु येतीनों प्रमुख समान हैं तथा तीनोंका परिवार भी समान है । पूर्व के सभी नियम इनको भी लागू हैं । इनकी प्रापंचिक मूर्तियां अपने स्वरूपाश्रित होती हैं । सूत्र-

क्षीराब्धिचा शेषशायी देवता होय, पर परमेश्वर नव्हे ।६।

शब्दार्थ——क्षीराब्धि——इस नाम का लोक, चा——का, शेष-शायी——शेष रूप शैया पर सोने वाला, देवता, होय——है, पर——परन्तु, परमेश्वर, नव्हे——नहीं है ।

भावार्थ——क्षीराब्धि नामक लोक में रहने वाला तथा शेष पर सोने वाला नारायण देवता है, परन्तु परमेश्वर नहीं । यह छठे गुट का नाम है । यहां की प्रमुख देवता नारायण है । यहां की एक लाख पचीस हजार देवताएं हैं । इनका स्वरूप-विकास पांच करोड़ योजन है । क्षीराब्धि का शब्दार्थ दूध का समुद्र होता है, किन्तु यहां पर क्षीराब्धि शब्द लोक-विशेष का वाचक है ।

तथा शेष शब्द भी सर्पाकृति देवता विशेष का वाचक है। त्रेता युग में आगमों के निकृष्ट आचरण से इनकी प्राप्ति तथा सुख होते हैं। सूत्र--

अष्ट भैरव देवता होति,पर परमेश्वर नव्हेति ।७।

शब्दार्थ---अष्ट---आठ, भैरव---इस नाम की, देवता, होति---हैं, पर---परन्तु, परमेश्वर, नव्हेति---नहीं है।

भावार्थ---भैरव नाम के आठ देवता हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं।

यह सातवें गुट का नाम है। इसमें आठ देवता हैं। इनका स्वरूप पचास करोड़ योजन है। त्रेता युग में आगमों के आचरण से इनकी प्राप्ति तथा सुख फल मिलते हैं। इनमें अहंकार अत्यधिक होता है। इनमें सृष्टि की रचना और संहार करने का सामर्थ्य है। इनमें ही आठ महद्-भूत कारण रूप से रहते हैं। इनका स्थान निश्चित नहीं। इनमें चंचलता बहुत है। एक क्षण में भूमि के इस सिरे से उस सिरे तक जा पहुंचते हैं। भैरव शब्द का अर्थ है भयंकर शब्द करने वाला। इनकी प्रापंचिक मूर्तियां अपने स्वरूपाश्रित रहती हैं। सूत्र--

विश्वरूप देवता होय, पर परमेश्वर नव्हे ।८।

शब्दार्थ---विश्वरूप---इस नाम की, देवता, होय--है, पर--परन्तु, परमेश्वर, नव्हे---नहीं है।

भावार्थ---विश्वरूप नामक देवता है, परन्तु परमेश्वर नहीं। यह आठवें गुट का नाम है। यहां की देवता एक ही है। इसका स्वरूप पांच सौ करोड़ है। इसी की मूर्ति को ब्रह्मांड कहते हैं, जिसमें चराचर की रचना है। इसकी मूर्ति भी और देवताओं के

समान प्रपंच की बनी हुई है। यह अपने अव्यक्त स्वरूप के आश्रित है। यदि आगमों का उत्तम प्रकार से विधियुक्त आचरण किया जाये, तो इसकी प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। सूत्र—

चैतन्य देवता होय, पर परमेश्वर नव्हे ।९।

शब्दार्थ—चैतन्य—माया, प्रकृति। देवता, होय—है, पर—परन्तु, परमेश्वर, नव्हे—नहीं है।

भावार्थ—चैतन्य नाम की देवता है, परन्तु परमेश्वर नहीं। यह नौवें गुट का नाम है। यहां की भी एक ही देवता है। इसके स्वरूप का विकास अनंत ब्रह्मांड है। यह ईश्वर की प्रमुख शक्ति है। रचना, संहार यही करती है। ईश्वर अवतार का शरीर भी यही बनती है। अतः ईश्वरीय शरीर को 'मायापुर' अर्थात् माया का शरीर कहते हैं। मायापुर के भजन पूजन से प्रसन्न होकर ईश्वर स्वयं इन कर्मों का फल देते हैं। इसकी प्रापंचिक मूर्तिधारी ब्रह्मांडस्था नहीं होती। सृष्टि के कार्य और ईश्वर अवतार की सेवा के लिये इसके चौदह प्रकार के विभाग होते हैं। इसकी पिंडस्था नहीं होती। इसका 'संलग्न' नामक अंश प्रत्येक जीव को चिपका रहता है। संलग्न को जीव के कर्मों का संस्मरण होता है। यह कर्म करने में जीव को प्रेरित करता है। ईश्वर का शाश्वत पद जीव को प्राप्त होने पर इसे जीव से अलग किया जाता है। सूत्र—

चैतन्या पर परमेश्वर तो देव श्रीचक्रधर,
सकळ जीवांतें रक्षिता हो, उद्धरिता हो ।१०।

शब्दार्थ—चैतन्या—चैतन्य माया से, पर—श्रेष्ठ, परमेश्वर, तो—वह, देव—ईश्वर, श्रीचक्रधर—ज्ञान और शक्ति

चक्र को धारण करने वाला, सकल---सब, जीवांतें---जीवों का, रक्षिता---रक्षक, उद्धरिता---सब देवताओं से ऊर्ध्व (श्रेष्ठ) करके मुक्ति देने वाला हो।

भावार्थ---चैतन्य माया से भी श्रेष्ठ परमेश्वर है और वही ईश्वर श्रीचक्रधर हम सब जीवों के रक्षक तथा उद्धारक हों। ईश्वर सर्व समर्थ है। उसी की आज्ञा से सभी कार्य होते हैं। वह जीव को ईश्वर बना सकता है, अतः परमेश्वर है। देवताओं को उसकी शक्ति कहा गया है, अतः वह सर्व शक्तिमान है। वह स्वयं नित्य मुक्त है और जीवों को मुक्त करने का उसमें सामर्थ्य है।

युगधर्म

युगधर्म का प्रकरणवश---भगवान् श्रीचक्रधर जी पैठन में निवास करते थे। एकाइसा रितपुर से अपनी माता की अस्थियां लेकर वहां आई। एक दिन भगवान् के पास सारंगपंडित और एकाइसा बैठे थे। "पीठ जय" के निंब के नीचे कई यात्रिक उतरे हुए थे। उनमें दो स्त्रियां थीं, जो मां-बेटी थीं। श्रीचक्रधर जी ने सारंग पंडित से पूछा---"पंडित जी, ये दोनों स्त्रियां बार-बार स्नान क्यों करती हैं?" इतने में वे दोनों मां-बेटी भगवान् के दर्शनार्थ वहां आ गईं। तब श्रीचक्रधर स्वामी ने उनसे पूछा, "क्यों जी, आप माघ मास में स्नान क्यों करती हैं?" वे बोलीं, "प्रभो, हम दोनों के पति नहीं है। इसलिये स्नान आदि कर्मों का हम आचरण करती हैं।" श्रीचक्रधर जी ने कहा---"देवियो, वे तो तुम्हारे मृत पति थे, परन्तु परमेश्वर नित्य पति है। वह

सबका स्वामी है, परम दयालु है। उसकी शरण जाने पर जीव दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त करता है। देवताओं के साधन दुःखरूप तथा अनित्य हैं।" इस प्रसंग पर भगवान् ने सबको युगधर्म का उपदेश किया।

युगधर्म का प्रकरण संबंध—अन्य व्यावृत्ति के अन्त में चैतन्य देवता का निर्देश होने से यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि चैतन्य देवता का युग कौन सा है ? धर्म क्या है ? इनका उत्तर देने के लिये आगे युगधर्म प्रकरण का निरूपण है। सूत्र—

बत्तीस लक्ष कृतयुग ।१। कृतयुगीं आत्मोपास्ति हा धर्म ।२। भक्ति अधर्म ।३। धर्मा तव चैतन्य प्राप्ति फळ ।४। अधर्मा तव खालिलीं युगीं जन्म ।५।

शब्दार्थ—बत्तीस—बत्तीस ३२, लक्ष—लाख, कृतयुग—सतयुग। कृतयुगीं—सतयुग में, आत्मोपास्ति—आत्मा उपास्ति अर्थात् आत्मा की पूजा, हा—यह, धर्म–आचरणीय नियम। भक्ति—सेवा, अधर्म—अधर्म—अधोयुग का धर्म। धर्मा तव–धर्म से, चैतन्य—माया, प्राप्ति—स्वरूप की प्राप्ति होती है, फल—देवता का सुख। अधर्मा तव—अधोयुग के धर्म से, खालिलीं—नीचे के, युगीं—युग में, जन्म—उत्पत्ति, मनुष्य शरीर मिलता है।

भावार्थ—बत्तीस लाख वर्ष कृतयुग है। कृतयुग में आत्मा (संलग्न) की उपासना करना धर्म है। भक्ति अधर्म है। धर्म-आचरण से चैतन्य देवता की प्राप्ति तथा सुख फल मिलते हैं। अधर्म (अधोयुग के भक्ति-धर्म) के आचरण से अधोयुग

त्रेता में मनुष्य का जन्म मिलता है। भूमि, मनुष्य और काल के संयोग को **युग** कहते हैं तथा युग की समाप्ति तक जो धर्म बना रहे उसे **युगधर्म** कहते हैं, कृत अर्थात् करना। चारों ही युगों की रचना माया ने की है। किन्तु इसे **'कृतयुग'** इसलिये कहते हैं कि इसके आरंभ में माया स्त्री-पुरुषों के शरीरों की रचना करती है तथा माता-पिता के अभाव में बारह वर्ष तक इनका लालन पालन भी करती है। यहां के मनुष्यों में क्षुधा आदि देह के आठ स्वभाव तो होते हैं, परन्तु उन्हें तज्जन्य कष्ट नहीं होते।

सूत्रपाठ में देह, मल (सूक्ष्म प्रपंच) और संलग्न (माया का अंश) इन तीनों को आत्मा कहा है। अतः आत्मोपास्ति अर्थात् आत्मा की पूजा। यदि इस सूत्र का देह की उपासना यह अर्थ किया जाये, तो देह की पूजा कोई भी कर सकता है। परन्तु इस जड़ प्रपंच की उपासना से मनुष्य को कुछ भी लाभ नहीं होता। इसी प्रकार यदि मल की उपासना इस अर्थ को माना जाये, तो वह मनुष्य को मलीन करने वाला है। उसकी उपासना से भी कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये यहां पर संलग्न की उपासना यही अर्थ यथार्थ है। क्योंकि जैसे एक दीपक में दो बत्तियां एक साथ रखी जाती हैं, वैसे देहरूप दीपक में संलग्न और जीव परस्पर मिलकर रहते हैं।

उपास्ति शब्द का अर्थ है समीप रहना। यदि इस अर्थ को माना जाये, तो हम सब संलग्न के पास हैं। परन्तु केवल समीप-वास होने से तो हमें कोई लाभ नहीं होता। अतः यहां पर उपास्ति का उपासना अर्थात् भक्ति करना ही अर्थ ठीक है। आत्मोपास्ति वाले पुरुष की अपेक्षा चैतन्य-विद्या-प्राप्त पुरुष

को साधनावस्था में सुख अधिक होता है। अर्थात् सुखाभाव के कारण यहां पर चैतन्योपास्ति न कहकर आत्मोपास्ति कहा है।

आत्मोपास्ति मानसिक ध्यान रूप होने से उसमें पूजा के लिये धूप, दीप आदि बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। आत्मोपास्ति वाला पुरुष देह की ओर से उदास रहता है। बाह्य कार्यों को करते हुए भी उसके मानसिक ध्यान में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यहां पर अधोयुग के भक्ति धर्म को अधर्म कहा है। वस्तुतः यह पापरूप अधर्म नहीं है।

युगधर्म के आचरण से जीवों को ब्रह्मांडस्था की मूर्ति की प्राप्ति तथा सुख फल होते हैं। किन्तु माया की ब्रह्मांडस्था की मूर्ति न होने के कारण जीवों को उसके चिज्जड स्वरूप की प्राप्ति तथा सुख फल होते हैं। कर्मभूमि से स्वर्ग तक चारों स्थानों के फलिये परमाणु के आधार पर देखते हैं। ब्रह्मा आदि से विश्व देवता तक चारों स्थानों के फलिये मलाधार देखते हैं। किन्तु चैतन्य फलिये भ्रान्त होते हैं, क्योंकि आत्मोपास्ति का पुरुष साधन अवस्था में ही उनसे अधिक देखता है।

अधिकार अवस्था प्राप्त होने से पूर्व देवता अपने धर्म का संचार कर नहीं सकतीं। आठवां वर्ष आरंभ होते ही मनुष्य विकल्प संचार का अधिकारी हो जाता है और संकल्प विकल्प करने से उसे कर्मलेप निष्पन्न होने लगते हैं। तथा बारह वर्ष की अवस्था में मनुष्य धर्म-संचार का अधिकारी हो जाता है। इस युग की माया अधिष्ठात्री देवता है। चूंकि माया सबसे बड़ी देवता है, अतः कोई भी छोटी देवता इसके स्वरूप में आ

नहीं सकती। अतः माया के बिना और कोई भी देवता इस युग में किसी मनुष्य को अपने धर्म का संचार कर नहीं सकती। भक्ति धर्म इस युग का अधर्म है, परन्तु उसका संचार किसी त्रेता की देवता ने नहीं किया। अपने पूर्व अधिकार के अनुसार वे लोग स्वयंमेव भक्ति करने लगते हैं। त्रेतायुग की अधिष्ठात्री देवताओं की वहां पहुंच हो नहीं सकती। अतः कृतयुग की समाप्ति पर त्रेता में जन्म लेने वाले जीवों को वहां की स्त्रियों के गर्भ में माया ही रखती है। यह युग व्यवस्था है, ताकि संसार चक्र चलता रहे।

इस सूत्र में प्राप्ति और फल इन दो शब्दों के प्रयोग का कारण यह है कि दोनों के कार्य पृथक्-पृथक् हैं। कभी-कभी जीव को देवता मूर्ति की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु उसका सुख फल नहीं मिलता। कभी सुख फल तो मिलता है, परन्तु स्थान प्राप्ति नहीं होती। जैसे अर्जुन, शान्तनु तथा रेवांतक आदि स्वर्ग में गये थे। उन्हें स्वर्ग स्थान की प्राप्ति हुई थी, परन्तु देवता का सुख फल नहीं मिला था। नारायण देवता ब्राह्मण-पुत्रों को क्षीराब्धि में ले गया था। उन्हें प्राप्ति मिली, किन्तु फल नहीं। तमस्वरूप में तथा **अवगला** में जीवों को प्राप्ति मिलती है फल नहीं। **अवगला** माया निर्मित उस स्थान विशेष का नाम है, जहां जीवों को सुख-दुःख रहित स्थिति में रखा जाता है। देवता-मूर्ति में सुख फल भोगने वाले जीवों को शाप के कारण देवता के स्थान से भ्रष्ट होना पड़ता है। तब देवता जीव को साथ लेकर मर्त्यलोक में शाप से प्राप्त शरीर में जन्म लेती है। उस समय देवता का सुख फल तो जीव को मिलता है, परन्तु स्थान प्राप्ति नहीं होती।

अपरोक्ष ज्ञानियों को विश्व और चैतन्य देवता का सुख-संचार होने पर फल तो है, परन्तु प्राप्ति नहीं।

कभी-कभी स्वर्ग में फल भोगने वाले फलियों को उच्च देवता ब्रह्मा अपनी विद्या का संचार कर देती है। उस जीव को फल तथा प्राप्ति तो हैं, परन्तु बाह्य उपभोगों की प्राप्ति नहीं। अतः प्राप्ति तथा फल में परस्पर भेद होने के कारण दोनों शब्द कहे गये हैं। इस बहियाग के आचरण का फल क्रमानुसार मिलता है, तत्काल नहीं। सूत्र—

सोळा लक्ष त्रेत ।६। त्रेतीं भक्ति हा धर्म।७। याग अधर्म।८। धर्मा तव कैलास वैकुंठ प्राप्ति फळ ।९। अधर्मा तव खालिलीं युगीं जन्म ।१०।

भावार्थ—त्रेतायुग का काल सोलह लाख वर्ष है। त्रेतामें भक्ति धर्म है। यज्ञ अधर्म है। धर्माचरण से सत्य, कैलास तथा वैकुंठ लोकों की देवताओं के फल तथा प्राप्ति मिलते हैं। परन्तु यज्ञ रूप अधर्म आचरण से अधोयुग द्वापर में मनुष्य जन्म मिलता है।

इस युग की अधिष्ठात्री ब्रह्मा आदि तीन देवता होने से इसे त्रेता कहते हैं। कृत युग की उपासना मानसिक है। परन्तु यहां की भक्ति में अपने पूज्य पुरुष की प्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा पूजा करनी पड़ती है।

सर्व प्रथम पात्र अर्थात् आराध्य पुरुष को तेल आदि मर्दन करके स्नान करवाया जाता है। उसके पश्चात् सोलह प्रकार की पूजा करके पात्र की प्रसन्नता के लिये वाद्य, संगीत, नृत्य, आदि कार्यक्रम किया जाता है। यह भक्ति प्रतिदिन आजन्म

श्रद्धापूर्वक करनी पड़ती है। इस भक्ति के माता पिता उत्तम, गुरु मध्यम और ज्येष्ठ बन्धु कनिष्ठ पात्र हैं। कैलास आदि स्थानों की नौ करोड़ देवता हैं। तथा प्रसंगानुसार मनुष्य की भावना घटती बढ़ती रहती है। अतः इनमें से उसकी भावना से जो प्रसन्न होगी, वही फल देगी। इसी प्रकार यज्ञ रूप अधर्म के आचरण से भी जो प्रसन्न होगी, वही मनुष्य शरीर देगी। बहिर्यागी मनुष्य अथवा मनुष्य की भक्ति से मनुष्यत्व की पात्रता से देवता के फल मिलते हैं। परन्तु विद्यावंत मनुष्य की भक्ति से मनुष्य शरीर की पात्रता से देवता-फल तथा ज्ञान की पात्रता से विद्या अधिकार निकलते हैं। इसी प्रकार ज्ञानविग्रह देवता अवतार की भक्ति से मनुष्यत्व की पात्रता से देवता फल, ज्ञानपात्रता से विद्याधिकार और देवतात्व की पात्रता से स्थिति सुख निष्पन्न होते हैं। सूत्र–

आठ लक्ष द्वापर ।११। द्वापरीं याग हा धर्म ।१२। तीर्थ क्षेत्र व्रत दान अधर्म ।१३। धर्मा तव स्वर्ग प्राप्ति फळ।१४। अधर्मा तव खालिलीं युगीं जन्म ।१५।

भावार्थ—द्वापर युग का काल आठ लाख वर्ष है। उसमें यज्ञ धर्म है। तीर्थ, क्षेत्र, व्रत और दान ये अधर्म हैं। धर्म से स्वर्ग में ब्रह्मांडस्था-मूर्ति की प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। अधर्म आचरण से अधोयुग कलि में मनुष्य जन्म मिलता है।

जो कृतयुग तथा त्रेतायुग के पश्चात् आता है, उसे द्वापर युग कहते हैं। उनसे प्रत्येक बात में यह अपर (कनिष्ठ) है, अतः इसे द्वापर कहा है। देवता के निमित्त अग्नि में जो सामग्री डाली

जाती है उसे होम यज्ञ कहते हैं। देवता अनेक होने पर भी भक्त की भावना से जो देवता प्रसन्न हो जाती है, वही उसे अपना फल देती है। भक्त की भावना से जो देवता प्रसन्न हो जाती है, वही देवता उसकी भावना को धारण करती है। अर्थात् देवता अपने भक्त के श्रद्धाभाव को अपने में ही केन्द्रित बनाये रखती है। जिस युग का जो धर्म हो, उस युग की समाप्ति तक वही रहता है। क्योंकि जिस देवता ने भावना स्वीकार कर ली है, वह दूसरी देवता के धर्म का संचार होने ही नहीं देती।

श्रेष्ठ युग द्वापर में अधोयुग कलि की देवताओं का धर्म आचरण करने से देवता के फल तथा प्राप्ति नहीं होते। अतः उसे अधर्म कहा है। चूंकि निष्पन्न कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है, किया हुआ कर्म व्यर्थ निष्फल हो ही नहीं सकता, अतः इस अधर्म के आचरण से अधोयुग कलि में मनुष्य जन्म होता है। क्योंकि यह कर्म वस्तुतः पाप रूप नहीं है, केवल समयानुकूल नहीं किया गया, इसलिये इसके आचरण से देवता के फल तथा प्राप्ति नहीं मिलते। इस यज्ञ धर्म के आचरण से होनेवाली प्राणियों की हिंसासे जो पाप निष्पन्न होता है, उसका दुःख रूप फल सुखफल के साथ ही भुगवा दिया जाता है। उदाहरणार्थ जब दैत्य देवताओं पर आक्रमण करके उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं तब देवता के फलिये भयभीत होकर अति दुःख भोगते हैं। उनके चले जाने पर पुनः देवता का सुख फल भोगने लगते हैं। किन्तु मनुष्य आदि की हिंसा हो जाने पर उसके नरक अलग भुगवाये जाते हैं। पाप-पुण्य एक साथ निष्पन्न होने पर देवता प्रथम जीव को पाप का फल भुगवाती है, पश्चात् पुण्य का फल। क्रिया सम्पूर्ण हो जाने पर उसका फल तत्काल

न मिलने के चार कारण हैं। एक तो जिस मनुष्य शरीर में कर्म किया हो, उसकी आयु का शेष होना, दूसरे कर्म भोग का क्रम प्राप्त न होना, तीसरे देवता-मूर्ति का रिक्त न होना और चौथे यह कि छोटी देवता की मूर्ति में स्थित फलिये को श्रेष्ठ देवता द्वारा निकाल कर अपने फल में ले जाना। सूत्र—

चार लक्ष कलियुग ।१६। कलियुगीं तीर्थ क्षेत्र व्रत दान हा धर्म ।१७। हिंसा अधर्म ।१८। धर्मा तव अंतराळप्राप्ति फळ ।१९। अधर्मा तव नरक ।२०। उत्तमा धर्मा तव अंतराळ प्राप्ति फळ।२१। मध्यमा धर्मातव अष्टौदेवयोनि प्राप्तिफळ ।२२। कनीयसा धर्मा तव अधोनीक प्राप्ति फळ ।२३। कृतयुगीं लक्ष भर आयुष्य ।२४। त्रेतीं दाहा सहस्र ।२५। द्वापरीं सहस्र ।२६। कलियुगीं शत ।२७। या चहुयुगां चा धर्मो परमेश्वर नेणिजे न पविजे परमेश्वरें परमेश्वर जानिजे परमेश्वरें परमेश्वर पाविजे ।२८।

भावार्थ—कलियुग का काल चार लाख वर्ष है। कलियुग में तीर्थ, क्षेत्र, व्रत और दान यह धर्म है। हिंसा अधर्म है। धर्म आचरण से अंतरालय की गंधर्व देवताओं की प्राप्ति तथा फल मिलते हैं। अधर्म से नरक। उत्तम प्रकार से विधि पूर्वक धर्म आचरण से अंतरालय देवताओं की प्राप्ति तथा फल मिलते हैं। मध्यम प्रकार से धर्म-आचरण करने पर अष्टौदेवयोनि देवताओं की प्राप्ति तथा फल मिलते हैं। कनिष्ठ प्रकार से धर्माचरण करने पर कर्मभूमि की देवताओं की प्राप्ति तथा फल मिलते हैं। कृतयुग में मनुष्य की आयु लाख वर्ष की है।

त्रेतायुग में मनुष्य की आयु दस हजार साल की होती है। द्वापर युग में हजार वर्ष की होती है। कलियुग में सौ वर्ष की होती है। इन चारों युगों के धर्म आचरण से परमेश्वर प्राप्त नहीं होता और न ही वह इससे जाना जा सकता है।

ईश्वरीय ब्रह्मविद्या-ज्ञान से ही परमेश्वर जाना जा सकता है तथा प्राप्त किया जा सकता है।

इस युग में मनुष्य की आयु आदि सभी बातें अति न्यून हो गई हैं। **सब** कुछ संकुचित हो गया है। भावुकता तथा धर्म का नाम शेष रह गया है। अतः इसे कलियुग कहते हैं। धर्म और कर्मभूमि के संयोग को युग कहते हैं। जिस जल में देवता सामर्थ्य हो, उसे **तीर्थ** कहते हैं। **क्षेत्र** में सामर्थ्य तभी तक रहता है, जब तक उसकी पत्र, पुष्प आदि से पूजा होती रहती है। किन्तु पूजा बन्द होने पर वह कुछ समय तक पूजा होने की प्रतीक्षा करता है। निश्चित अवधि समाप्त होने पर वह प्रतिमा से निकलकर अपनी कारण ब्रह्मांडस्था में विलीन हो जाता है।

देवता सामर्थ्य रहित जल को तीर्थ मान कर स्नान करने से तथा सामर्थ्य रहित क्षेत्र का आचरण करने से मनुष्य को देवता अपना सुख फल नहीं देती। साधक को भावुकता का सुख रूप फल मिलता है। जैसे कोई ब्राह्मण भिक्षा मांगने जाता है, तो उसे भिक्षा के अतिरिक्त कुछ फल तथा थोड़ी सी दक्षिणा भी मिल जाती है। त्रेतायुग में तीर्थ, क्षेत्र आदि कलियुग का धर्म आचरण में लाने से मनुष्य को देवता का सुख फल नहीं मिलता, क्योंकि अधोयुग का धर्म श्रेष्ठ युग में किया गया है। परन्तु उससे कलियुग में संतति-संपत्ति से सम्पन्न मनुष्य जन्म

मिलता है। क्योंकि वह वस्तुतः पापरूप कर्म नहीं है।

देवता के निमित्त जिस नियम का परिपालन किया जाये उसे **व्रत** कहते हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों में तीन प्रकार से व्रतादि करने वाले होते हैं। एक तो शास्त्र-विधि के अनुसार करता है। दूसरा अपनी भावुकता से और तीसरा मनमाने ढंग से करता है।

उपकार की अपेक्षा किये बिना अपने अधिकार को छोड़ कर जिस वस्तु पर दूसरे का अधिकार कर दिया जाये, उसे **दान** कहते हैं। जिस कर्म से अपने को तथा दूसरे को दुःख हो उसे **हिंसा** कहते हैं। मनुष्य देह से हीन पशु पक्षी आदि योनियों से लेकर जड़त्व तक भोगे जानेवाले कर्म-भोग को **नरक** कहते हैं। चैतन्य आदि देवता फलों में सुख-दुःख दोनों का भोग होने से उन्हें **मिश्रफल** कहते हैं। तीनों युगों के अधर्म से मनुष्य शरीर की प्राप्ति बतलाई है, परन्तु कलियुग के अधर्म से नरक बतलाये हैं। इसका कारण यह है कि कलियुग के नीचे पांचवां युग नहीं है, जहां अधर्म से जन्म मिलता।

वाराणसी और पैठन इन दोनों नगरों की भूमि की पवित्रता समान है, क्योंकि सूत्रपाठ में महादेव तथा ब्रह्मा को एकसा माना है। यथाक्रम इन्हीं के विग्रहों ने इन नगरों में खेल क्रीड़ा की है। जिस जल में देवता सामर्थ्य हो, उसे तीर्थ कहते हैं। इन चारों में तीर्थ प्रधान है और क्षेत्रादि गौण हैं। एकवीरा (रेणुकादेवी की प्रतिमा जो माहूर में है) और मल्लिनाथ ये दोनों क्षेत्र हैं। वाराणसी और लोनार ये दोनों तीर्थ हैं। देने को दान कहते हैं। एकादशी, शिवरात्रि आदि के दिन व्रत रखा जाता है। ईश्वरीय

ब्रह्मविद्या ज्ञान को जानने वाला इन देवता धर्मों का आचरण नहीं करता।

तीर्थ क्षेत्रादि ये चारों धर्म यथाक्रम ही श्रेष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ हैं, क्योंकि अनुष्ठान के लिये श्रेष्ठ धर्म ही पहले बतलाया जाता है और पश्चात् मध्यम। तथा तीर्थ इसलिये भी श्रेष्ठ है कि तीर्थ पर जाने से वहां क्षेत्र, व्रत तथा दान ये तीनों भी आचरण में आ जाते हैं। परन्तु क्षेत्रादि का अनुष्ठान करने पर उनमें तीर्थ का अनुष्ठान उपलब्ध नहीं हो सकता। त्रेतायुग में भी तीर्थ क्षेत्र थे। जैसे माहूर में सर्वतीर्थ तीर्थ और रेणुकादेवी क्षेत्र है। तथा त्रेता में दान की भी प्रथा थी। सहस्रार्जुन ने यथेच्छ दान देकर लोगों के मनोरथ पूर्ण किये थे। यदि त्रेतायुग में तीर्थ क्षेत्रादि धर्म का आचरण किया जाये तो उससे कलियुग में मनुष्य देह मिलता है, जिसमें अष्ट भोगों सहित राजाधिराज का पद प्राप्त होता है।

क्रियापाक

क्रियापाक का प्रकरणवश—भगवान् श्रीचक्रधर जी खड़कुली गांव में विराजमान थे। एल्हंभट्ट जब भगवान् के दर्शन करने आये, तो उनके साथ एक ब्राह्मण था। उसने भगवान् की सेवा में प्रार्थना की, "प्रभो! कुछ उपदेश सुनाइये।" भगवान् ने पूछा, "कहो, क्या सुनना चाहते हो? रजोयुक्त सत्व अथवा सत्वयुक्त तम?" यह सुनकर ब्राह्मण चुप होगया। तब भगवान् ने क्रियापाक प्रकरण का उपदेश किया।

प्रकरण संबंध—बहिर्याग आदि धर्म आचरण करने के लिये मनुष्य शरीर अन्नदान से प्राप्त होता है। अतः युगधर्म के आगे क्रियापाक लिखा है।

सत्व प्रधान कर्म—

१. जिस कर्म में अन्न देनेवाला, भोजन बनाने वाले, परोसने वाले, खाने वाले, भोजन बनाने का स्थान, काल तथा खाद्य पदार्थ ये सभी सत्व प्रधान हों, तो उससे सात्विक क्रिया निष्पन्न होती है। तथा उससे निष्पन्न मनुष्य शरीर भी सत्व प्रधान होते हैं और सत्व प्रधान देवता के सुखफल मिलते हैं।

२. जिस कर्म में अन्नदाता, बनाने, खाने तथा खिलाने वाले सात्विक प्रकृति के हों और स्थान काल तथा खाद्य पदार्थ रजोगुण प्रधान हों, उस क्रिया को सत्व प्रधान रज अनुषंगिक कहते हैं। मिलने वाले मनुष्य शरीर के स्वभाव भी सत्व प्रधान रज अनुषंगिक होते हैं तथा सत्व प्रधान रज अनुषंगिक देवता के फल प्राप्त होते हैं।

३. जिस कर्म में अन्नदाता, बनाने, खाने तथा खिलाने वाले सात्विक प्रकृति के हों और स्थान, काल तथा खाद्य पदार्थ तमोगुणी हों, उस क्रिया को सत्व प्रधान तम अनुषंगिक कहते हैं। मिलने वाले मनुष्य शरीर के स्वभाव भी वैसे ही होते हैं तथा वैसी ही देवता के सुख फल मिलते हैं।

४. इसी प्रकार यदि ये सब रज प्रधान होंगे, तो क्रिया राजस होगी। तथा रज प्रधान सत्व अनुषंगिक और रज-प्रधान तम अनुषंगिक क्रियाएं भी पूर्ववत् निष्पन्न होंगी।

५. जिस कर्म में ये सभी तम प्रधान होंगे, वह क्रिया तामस

होगी। और जिसमें तम प्रधान सत्व अनुषंगिक हो तथा तम प्रधान रज अनुषंगिक हो, उन्हें इन्हीं नामों से कहा गया है।

विद्यामार्ग

आवश्यक संकेत—इस प्रकरण में देवताओं के नौ गुटों को विशिष्ट दृष्टि से चार गुटों में विभक्त किया गया है। कर्मभूमि, अष्टौदेवयोनि, अंतरालय तथा स्वर्ग इन चार गुटों का एक गुट बनाया गया है, जिसका नाम आणव तथा विषय रखा गया है। कैलास वैकुंठ सत्यलोक तथा क्षीराब्धि इन दो गुटों का एक गुट बनाकर उसका नाम महाणव तथा इन्द्रिय रखा गया है।

भैरवगुट का शाक्तेय तथा अंतःकरण नाम रखा गया है। विश्व और माया इन दो गुटों का एक गुट बनाकर उसका नाम शांभव रखा गया है। इस गुट के पृथक्-पृथक् दो नाम भी हैं। विश्व का देह तथा चैतन्य का विदेह। विषय, इन्द्रिय, अंतःकरण, देह तथा विदेह इन नामों की यह विशेषता है कि ये नाम देवता, उनकी पिंडस्था, मल तथा फलियों के लिये प्रयुक्त किये हैं।

विद्यामार्ग का प्रकरणवश—दायंबा ने भगवान् श्रीचक्रधर से कहा—"प्रभो! एकबार हमारे प्रान्त में अकाल पड़ गया था। अतः हम तेरह महाजन मिलकर तेलंग प्रान्त में चले गये थे। हमने अपने एक साथी को गोरख बनाकर जब ग्राम निवासियों को यह बात सुनाई, तो लोगों ने श्रद्धा के कारण हमारे साथी गोरख का तथा हमारा बहुत स्वागत किया। इस प्रकार प्रतिदिन हमें मिष्टान्न भोजन और दक्षिणा मिलने लगी। दक्षिणा में आये

रुपये हम घर खर्च के लिए भेज देते थे। कई दिनों तक यही कार्य-क्रम चलता रहा। अन्त में सुकाल हो जाने पर हम अपने प्रान्त में लौट आए। संसार में "मनुष्य जिस वस्तु की अभिलाषा करता है, वह उसे मिल जाती है।"

यह सुनकर श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा—"दायंबा ! संसार में तो अंश की चाहना करने वालों को सम्पूर्ण की प्राप्ति होती है।" यह कहकर भगवान् ने विद्यामार्ग प्रकरण का निरूपण किया।

प्रकरण संबंध—युगधर्म के अन्तिम सूत्र में ब्रह्मविद्या से ईश्वर प्राप्त होता है, यह कहा गया है। अतः ईश्वर तथा देवताओं की विद्या बतलाने के लिये युगधर्म के आगे विद्यामार्ग प्रकरण लिखा गया है।

विद्यामार्ग प्रकरण का सारांश—इस प्रकरण में देवताओं की तथा उनकी विद्याओं की संख्या और विद्या देने का प्रकार बतलाया है तथा देवता भक्ति के बहिर्याग और अन्तर्याग दो प्रकार बतलाये हैं। विद्यामार्ग अन्तर्याग है। किसी विद्वान् से देवता की महिमा सुनकर जैसे बहिर्यागी भक्ति करने लग जाता है और नाना प्रकार के कष्ट उठाता है, वैसे अन्तर्यागी नहीं कर सकता। अन्तर्याग प्राप्त होने के लिये तो विद्या-अधिकार की आवश्यकता होती है, जो विद्यावंत अथवा देवता-विग्रह को भोजन खिलाने से निष्पन्न होता है। अन्तर्याग में दुःख भी नहीं उठाना पड़ता।

ईश्वर प्राप्ति के भी दो प्रकार बतलाये हैं। ज्ञान ईश्वर का बहिर्याग है। जो ज्ञानी पुरुषों को निर्हेतुक भोजन खिलाने से मिलता है। प्रेम ईश्वर का अन्तर्याग है, जो ईश्वर अवतार को निर्हेतुक भोजन खिलाने से निष्पन्न होता है। ज्ञानमार्ग में ज्ञानी

को नाना प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं, किंतु प्रेमी को नहीं।

सुगमता के लिये इस प्रकरण में शांभव, शाक्तेय, महाणव तथा आणव इन चार गुटों में देवताओं को विभक्त कर दिया है। इसी प्रकार इन चारों गुटों के विदेह, देह (शांभव), अंतःकरण (शाक्तेय), इन्द्रिय (महाणव), तथा विषय (आणव) ये नाम भी रख दिये हैं। देवता, उनकी पिंडस्था, मल तथा फलियों को विषय कहा है। इसी प्रकार सभी नामों में देवता, उनकी पिंडस्था मल तथा फलियों का अन्तर्भाव है। सूत्र--

विद्याओं की संख्या--

एक विद्या ।१। दोन विद्या ।२। आठ विद्या ।३। सवावो लक्ष नव कोडी विद्या ।४। बाहात्तर कोडी विद्या ।५।

अर्थ--विद्या एक है। विद्याएं दो हैं। विद्याएं आठ हैं। विद्याएं नौ करोड़ एक लाख पच्चीस हजार हैं। विद्याएं बहात्तर करोड़ हैं। सूत्र--

विद्याओं के नाम--

एक विद्या ते ब्रह्मविद्या ।६। द्विधा शांभव ।७। अष्टधा शाक्तेय ।८। सवावो लक्ष नव कोडी महाणव ।९। बाहात्तर कोडी आणव ।१०।

अर्थ--एक विद्या ईश्वर की ब्रह्मविद्या है। दो विद्याएं शांभव अर्थात् विश्व और चैतन्य देवता की हैं। आठ विद्याएं शाक्तेयों की हैं। शाक्तेय यह नाम भैरव दवताओं का है। नौ करोड़ एक लाख पचीस हजार विद्याएं महाणवों की हैं। महाणव यह नाम

कैलास, वैकुंठ, सत्यलोक तथा क्षीराब्धि की देवताओं का है। बहात्तर करोड़ विद्याएं आणवों की हैं। आणव यह नाम कर्मभूमि अष्टौदेवयोनि, अंतरालय और स्वर्ग की देवताओं का है। सूत्र–

विद्या-संचार की विधि––

विषयाधार वेध ।११। इन्द्रियाधार वेध ।१२। अंतःकरणाधार वेध ।१३। देहाधार वेध ।१४। विदेहाधार वेध ।१५। केवळाधार वेध ।१६।

अर्थ––विषय नाम की देवताएं विषय नामक अपने मल के आधार अपनी विद्या का संचार करती हैं। विषय यह नाम आणव देवता तथा उनके मल और पिंडस्थाओं का है। इन्द्रिय नाम की देवताएं इन्द्रिय नामक अपने मल के आधार अपनी विद्या का संचार करती हैं। इन्द्रिय यह नाम महाणव देवता तथा उनके मल और पिंडस्थाओं का है। अंतःकरण नाम की देवताएं अंतःकरण नामक अपने मल के आधार अपनी विद्या का संचार करती हैं। अंतःकरण यह नाम शाक्तेय देवता तथा उनके मल और पिंडस्थाओं का है। देह नाम की देवता देह नामक अपने मल के आधार अपनी विद्या का संचार करती है। देह यह नाम विश्व देवता तथा उसके मल और पिंडस्थाओं का है। विदेह नाम की देवता विदेह नामक अपने मल के आधार अपनी विद्या का संचार करती है। विदेह यह नाम चैतन्य देवता तथा उसके आद्यमल और संलग्न का है। केवल ईश्वर केवल जीवस्वरूप में अपनी प्रेम शक्ति का संचार करते हैं। सूत्र––

विद्याओं से फल-प्राप्ति—

विषयवेधें विषयांची प्राप्ति ।१७। इन्द्रियवेधें इन्द्रियांची प्राप्ति ।१७। अंतःकरणवेधें अंतःकरणाची प्राप्ति ।१९। देहवेधें देहाची प्राप्ति ।२०। विदेहवेधें विदेहाची प्राप्ति ।२१। केवळवेधें कैवल्याची प्राप्ति ।२२।

अर्थ—विषय नामक पिंडस्थाओं की भक्ति करने से ,विषय नामक ब्रह्मांडस्थाओं की प्राप्ति तथा सुख फल मिलते हैं। इन्द्रिय नामक पिंडस्थाओं की भक्ति करने से इन्द्रिय नाम की ब्रह्मांडस्थाओं की प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। अंतःकरण नामक पिंडस्थाओं की भक्ति से अंतःकरण नाम की ब्रह्मांडस्थाओं की प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। देह नामक पिंडस्था की भक्ति से देह नाम की ब्रह्मांडस्था की प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। विदेह नामक संलग्न की भक्ति से विदेह नाम की चिज्जड़ माया के स्वरूप की प्राप्ति तथा सुखफल मिलते हैं। केवल ईश्वर अवतार की भक्ति से ईश्वर के कैवल्य स्वरूप की तथा उसके शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है।

भाष्य—इस प्रकरण के सूत्रों में एक से पांच तक विद्याओं की संख्या, छह से दस तक विद्याओं के तथा देवताओं के नाम, ग्यारह से सोलह तक विद्याओं की संचार-विधि, तथा सत्रह से बाईस तक विद्याओं से प्राप्त होनेवाले फल बतलाये हैं। देवताओं के बहिर्याग और अन्तर्याग के आचरण से देवता-भक्तों को सुख फल मिलता है। ब्रह्मविद्या, शांभव आदि ये नाम सार्थक हैं। साधन अवस्था में विश्व और माया के साधकों की प्रतीति, सुख

और स्थिति में समानता होने से तथा साध्य अवस्था में फलियों को अधिक दुःख न होने से विश्वदेवता को भी शांभव कहा गया है। शांभव नाम प्राप्त हो जाने पर भी विश्व और माया में परस्पर भेद है, अतः माया को शुद्ध शांभव और विश्व को समल शांभव कहते हैं। इसी प्रकार विश्व देवता का साधक पिंडस्था की उपासना करके ब्रह्मांडस्था की मूर्ति को प्राप्त होता है और सुख के साथ कुछ दुःख भी भोगता है, किन्तु चैतन्य विद्यावंत संलग्न की उपासना में सुखानुभव करता है और चिज्जड़ मायास्वरूप को प्राप्त करता है। यद्यपि देवताएं विद्या का संचार मल के आधार करती हैं, तथापि देवताओं की प्राप्ति तथा सुखफल पिंडस्थाओं के कारण ही प्राप्त होते हैं, मल के कारण नहीं। जीव को विद्या अधिकार प्राप्त होने पर भी यदि पिंडस्था कुछ कम हों, तो देवता उसे विद्या नहीं देती। शरीर का कोई अंग-भंग हो जाए, तो उस अंग की पिंडस्थाएं ब्रह्मांडस्था में चली जाती हैं। सूत्रपाठ में अविद्या युक्त जीव को तथा मायास्वरूप युक्त ईश्वरस्वरूप को केवल कहा गया है। अविद्या रहित जीव को कैवल्य कहा है तथा मायास्वरूप रहित ईश्वरस्वरूप को परकैवल्य कहा है।

संहार (प्रलय)

संहार का प्रकरणवश—गर्लानिबा के पास ही भगवान् श्रीचक्रधर जी अपने भक्त जनों के साथ निवास कर रहे थे। भगवान् ने **परसनायक** नामक भक्त को **स्थित्यानंद** प्रदान किया। जब सब भक्त भगवान् के पास आकर बैठे, तो उनमें परसनायक

नहीं थे। श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा कि परसनायक नहीं दीखते। भक्त जनों ने कहा––"वह सो रहे हैं।" भगवान् ने कहा–– "उन्हें उठा लाओ।" जो भक्त उठाने गये, उन्होंने वापस आकर कहा––"भगवन् ! परसनायक तो मर गये।" यह सुनकर भगवान् ने कहा–"तब आप लोग चुपचाप क्यों बैठे हैं ?" संसार में मृत्यु के पश्चात् जैसे सगे-संबंधीऔर मां-बहिनें करती हैं, वैसे करो।" इतना सुनते ही सब भक्त रोने लगे। दायंबा तो अति ऊंचे स्वर से मेरे परसेया, परसनायका, परसोबा, तुम हमें छोड़ कर कहां चले गये हो ? यह तुम्हारा डंडा, झोली, लोटा आदि सामान अब कौन संभालेगा ? यह कहकर अति तार-स्वर से रोने लगे।

इस प्रकार हाहाकार और करुण शब्दों द्वारा दुःख प्रगट करके जब भक्त जन रो रहे थे तब भगवान् ने कहा––"अरे, भाई अब रोते ही रहोगे या अन्तिम संस्कार का भी कोई प्रबंध करोगे ?" तब **नागदेव** और कुछ भक्त जन जाकर गर्लनिबा गांव से लकड़ियां ले आये। चिता बनाई गई। डोली तैयार हो जाने पर मृतक को चार आदमियों ने कंधों पर उठाया और श्यमशान की ओर चल पड़े। **दायंबा** ने आग ले ली। मृतक परसनायक को चिता पर लिटाया गया। उत्थान पिंड रख कर पानी की धार छोड़ी गई और मुर्दे के पांवों की ओर घट फोड़ने पर चिता में आग दे दी गई। वापस आकर वट-वृक्ष के नीचे आंगन में आसन पर भगवान् के बैठ जाने पर सब लोग भी बैठ गये। उस समय दुःखित भक्तों के प्रति भगवान् श्रीचक्रधर जी ने कहा––"दुःख नहीं करना चाहिये। दुःख से पाप होता है और पाप से नरक। यह प्रपंच मिथ्या है, नाश-

वान् है। जो स्थूल प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, उसका नाश हो जाता है।"

इस प्रकार **संहार** प्रकरण का भगवान् ने उपदेश किया। इधर तो भक्त जन रो रहे थे और उधर चिता में आग की गर्मी से परसनायक, जो वस्तुतः मरे नहीं थे, केवल स्थिति के प्रभाव से मृतक जैसे हो गये थे, उठकर बैठ गये। सिरहाने में रखे पिंड को खाकर वह भी चुपचाप भक्तों में आ बैठे और रोने लगे।

जब श्रीचक्रधर स्वामी ने भक्त जनों से पूछा कि आप लोग क्यों रो रहे हैं, तो उन्होंने कहा कि परसनायक की अचानक मृत्यु हो जाने से हम रो रहे हैं। भगवान् ने परसनायक की ओर देखकर पूछा "परसनायक! तुम क्यों रो रहे हो?" उसने कहा—"जी जी! ये सब रो रहे हैं, अतः मैं भी रो रहा हूं।" यह सुनकर भगवान् मुस्कराए और सब लोगों ने रोना बंद किया।

संहार का प्रकरण संबंध—असतिपरि के अनुसार आचरण करनेवालों ने तो मुक्ति प्राप्त कर ली। परन्तु दूसरे जीव प्रमाद के कारण आवागमन के फेर में पड़े रहते हैं। उनके लिये संहार होता है। अतः असतिपरि के आगे संहार लिखा है।

देवताफल अनित्य हैं, यह बतलाने के लिये विद्यामार्ग के आगे संहार लिखा है।

संहार प्रकरण का सारांश—संहार के तीन प्रकार बतलाये हैं। महासंहार उसे कहते हैं, जिसमें सब ब्रह्मांडों का नाश होता है। उसमें स्थूल, सूक्ष्म (मल) सभी प्रकार के प्रपंच का नाश होता है। देवता की ब्रह्मांडस्थाएं, विग्रह, पिंडस्थाएं, सामर्थ्य

तथा वोलगनियां सभी अपने अव्यक्त कारण स्वरूप में लीन हो जाते हैं। जीव सभी कर्मफलों से निकालकर माया के तम स्वरूप में पहुंचाये जाते हैं। माया के अव्यक्त स्वरूप से समय-समय पर चौदह विभाग होते हैं। मायापुर के लिये विभक्त होने वाली जड़, अजड़ तथा चिज्जड़, विज्ञान-मूर्ति के लिये विभक्त होने वाली जड़, अजड़ तथा चिज्जड़ और सृष्टि व्यापार के लिये विभक्त हुई जड़, अजड़ एवं चिज्जड़ (फलस्थ) इस प्रकार ये माया के ६ विभाग हैं। स्थानापति माया १०, नित्य ११, अवगला १२, वोलगनी १३ और चौदहवां विभाग माया का संलग्न है। संलग्न को छोड़कर माया के सभी विभाग अपने अव्यक्त स्वरूप के आश्रित हो जाते हैं। ईश्वर के अवतार भी अपने अव्यक्त कारण स्वरूप में लीन हो जाते हैं। रचना का क्रम ऊपर से नीचे की ओर आता है, किन्तु संहार का क्रम उससे उल्टा है, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर जाता है।

अवांतर संहार यह संहार का दूसरा प्रकार है। इसमें केवल भैरव स्वरूप तक संहार (नाश) होता है।

युगांतीचा संहार अर्थात् चार युगों के पश्चात् होने वाला संहार यह संहार का तीसरा प्रकार है, जिसमें केवल कर्मभूमि का नाश होता है। रचना के नाश को संहार कहते हैं। यहां इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण जी को और ब्रह्मविद्या के वक्ता भगवान् श्रीचक्रधर जी को पुराणों का वह मत मान्य नहीं जिसमें सृष्टि का कर्ता ब्रह्मा, पालक विष्णु और संहारक महादेव माने गये हैं। शास्त्रदृष्ट्या अष्टधा प्रकृति अर्थात् पांच महाभूत और तीन गुणों का मूल

अव्यक्त कारण स्वरूप भैरव देवता हैं, जिनकी स्वरूप, अवधि में ब्रह्मा आदि जा ही नहीं सकते, फिर करना धरना तो दूर रहा। अतः सर्वश्रेष्ठ देवता माया ही सृष्टि की रचना और संहार ईश्वरीय आज्ञा से करती है।

परमेश्वर प्रवृत्ति माया सृष्टि संहार करी ।१।

शब्दार्थ—परमेश्वर—त्र्यंश ईश्वर स्वरूप की, प्रवृत्ति-इच्छासे, माया-चैतन्य देवता, सृष्टि-रचना. संहार-नाश, करी-करती है।

भावार्थ—निराकार परमेश्वर की इच्छा से माया रचना तथा संहार करती है। इस सूत्र में परमेश्वर त्र्यंश ईश्वरस्वरूप को कहा गया है। ईश्वर अवतार को भी परमेश्वर कहते हैं। जहां पर ब्रह्म, माया तथा ईश्वर ये तीन स्वरूप हों, उसे त्र्यंश कहते हैं। उसी में संहार, संसरण तथा उद्धरण की तीन इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। ईश्वर में ऐश्वर्य आदि धर्म माया के संबंध से रहते हैं।

प्रवृत्ति अर्थात् वह इच्छा, जो किसी की प्रेरणा के बिना ही उत्पन्न होती है। माया आदि कोई भी देवता स्वयं त्र्यंश ईश्वर की प्रवृत्ति को जान नहीं सकती। अतः ईश्वर स्वयं उन्हें अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान कराते हैं। इसी प्रकार व्यक्त ईश्वर अवतार के मायापुर अर्थात् शरीर को माया के अतिरिक्त दूसरी कोई भी देवता देख नहीं सकती। क्योंकि **"नीचा ऊचेते देखणें नाहीं।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् छोटी देवता बड़ी देवता को देख नहीं सकती। इसलिये ईश्वर अवतार यह इच्छा करते हैं कि "हमारे मायापुर

तथा मनोधर्म को सभी देवताएं देख तथा जान सकें।" क्योंकि यदि देवताएं मायापुर को देख नहीं सकेंगी, तो वोलगनियां बनकर सेवा न कर सकेंगी। इससे ब्रह्मांड के अन्तर्गत होने वाले सभी काम ठप्प हो जायेंगे। परमेश्वर अवतार की प्रवृत्ति के कारण ही सब देवताएं मायापुर को देख सकती हैं।

सृष्टि अर्थात् सृजन, जिसमें जीव, देवता और प्रपंच को स्थूल रूप में लाया गया हो, उसे सृष्टि कहते हैं। सृष्टि रचना में दस कारण होते हैं। सर्व प्रथम (१) त्र्यंश ईश्वर की इच्छा। (२) माया का व्यापार। (३) जीवों की मल रचना। (४) माया द्वारा स्थूल प्रपंच की रचना। (५) माया द्वारा चतुर्विध कर्मफलों की रचना। (६) सुख-दु:खों का प्रणव। (७) देवता के अवतार। (८) देवता के साधन। (९) ईश्वर के अवतार तथा (१०) जीवोद्धरण।

इस दस प्रकार की रचना के नाश को संहार कहते हैं। "संहरतीति संहार :" अर्थात् कष्ट पहुंचाए बिना सम्यक् प्रकार से कर्मफलों में से जीवों के निकालने की प्रक्रिया को संहार कहते हैं। जैसे योगी लोग बैठे बिठाये योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को भस्म कर डालते हैं, वैसे माया सामर्थ्य से युगाग्नि तथा प्रलयाग्नि के प्रकट होते ही संहार हो जाता है।

विषय इन्द्रयीं विलया जाए ।२।

शब्दार्थ—विषय—चार स्थानों की देवताओं के मल, इद्रयीं—ब्रह्मा आदि चार स्थानों की देवताओं के मलों में, विलया—विलीन, जाए—जाते हैं (होते हैं)।

भावार्थ—विषय नामक मल इन्द्रिय नाम के मलों में विलीन होते हैं। कर्मभूमि से स्वर्ग तक के चार स्थानों की देवता, उनके पिंडस्था, मल और फलियों को विषय कहा गया है, क्योंकि ये विषयाराम हैं। इनमें स्त्री-पुरुष देवताओं के युगल होते हैं। इनमें शारीरिक भोग कम है, परंतु प्रणय-भावना अधिक है। देवता अपने सुख में तथा फलिये बाह्य उपभोगों में मग्न रहते हैं। फलियों की जड़ पदार्थ तथा चेतन पदार्थों में अतीव ममता होती है। जैसे वशिष्ठदेव जी इन्द्र देवता के विद्यावंत थे, परन्तु फिर भी उनकी चेतनपदार्थ अर्थात् पुत्रों में अतीव ममता थी तथा भगवान् श्रीचक्रधर जी के शिष्य रामदेव जी को देवता की विद्या प्राप्त थी, परन्तु खाने-पीने के जड़ पदार्थों में उनकी अति ममता थी। स्वर्ग के फलिये परमाणु के आधार, गंधर्वों के फलिये तीन परमाणुओं के आधार, अष्टौदेवयोनि के फलिये पांच परमाणुओं के आधार और कर्मभूमि के फलिये नौ परमाणुओं के आधार देखते हैं।

कैलास से क्षीराब्धि तक की देवताएं, उनके पिंडस्थाएं, मल तथा फलियों को इन्द्रिय कहा है। इन्द्रिय अर्थात् पदार्थ का परिज्ञान करानेवाली वस्तु। ये इच्छा होने पर प्रत्यक्ष पदार्थ का उपभोग न करके भी केवल इन्द्रियों के द्वारा रसास्वाद ले सकते हैं, अतः इन्हें इन्द्रिय कहा है। पांच ज्ञान इन्द्रियों को भी इसीलिये इन्द्रिय कहा गया है। उनके द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। इनके फलियों को देह आदि किसी पदार्थ की ममता नहीं होती।

ये मल के आधार देखते हैं। यहां पर भी स्त्रियां हैं, परन्तु यहां भोग उपभोग आदि नहीं है। विलय अर्थात् किसी वस्तु का

अत्यंत अभाव। जैसे दीपक के बुझ जाने पर प्रकाश का अभाव हो जाता है। सूत्र—

इन्द्रिय अंतःकरणीं विलया जाए।३।

शब्दार्थ—इन्द्रिय—ब्रह्मा आदि से क्षीराब्धि तक की देवताओं के मल, अंतःकरणीं—भैरव देवताओं के मलों में, विलया जाए—विलीन होते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय नामक मल अंतःकरण नामक मलों में विलीन हो जाते हैं—अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। इस वचन में कार्य-कारण बतलाने के लिये इन्द्रिय शब्द का पुनः प्रयोग किया है। जो पहिले हो वह कारण, जो पश्चात् हो वह कार्य होता है। उच्चादि क्रम से मल रचना होती है। अर्थात् चैतन्य देवता द्वारा आद्यमल प्रकाशित हो जाने पर जीव सबसे पहले विश्व देवता का मल रचता है। उसके पश्चात् भैरव, क्षीराब्धि आदि से लेकर कर्मभूमि तक की देवताओं के मल रचता है। विश्व से भैरवों का मल आठगुना मोटा होता है। भैरवों से क्षीराब्धि का और यही क्रम कर्मभूमि तक चलता है। संहार नीचादि क्रम से होता है। कर्मभूमि के मल अष्टौदेवयोनि से आठगुना स्थूल होते हैं। उनकी स्थूलता टूटकर आठ टुकड़ों में बंट जाती है। अतः वे अष्टौदेवयोनि के मलों के समान हो जाते हैं। सूत्रों में जो यह क्रम आया है "कर्मभूमि के मल अष्टौदेवयोनि के मलों में विलीन होते हैं" इसका केवल यही अर्थ है कि नीचे के मलों के आठ आठ टुकड़े हो जाने पर उनकी पूर्वस्थिति नहीं रहती वे ऊपर के मलों के समान सूक्ष्म हो जाते हैं। इसी का नाम

विलय है। यहां पर ज्ञान सदृशता के कारण क्षीराब्धि के फलियों को भी इन्द्रिय नाम दिया गया है। आठों भैरव देवताएं, उनकी पिंडस्थाएं, मल तथा फलियों को अंतःकरण कहा है, क्योंकि इनके फलिये अंतःकरण में जिस पदार्थ का चिंतन करते हैं, उसका रसास्वाद उन्हें प्राप्त हो जाता है। अंतःकरण के द्वारा रसास्वाद लेने वाले को अंतःकरण कहा गया है। सूत्र—

अंतःकरण देहीं विलया जाए ।४।

शब्दार्थ—अंतःकरण—अंतःकरण नामक भैरव देवताओं के मल, देहीं—देह नामक विश्वदेवता के मलमें, विलया जाए—विलीन होते हैं।

भावार्थ—अंतःकरण नामक मल देह नामक मल में लय हो जाते हैं। सूत्र में अंतःकरण शब्द का पुनः प्रयोग कार्य-कारण भाव स्पष्ट करने के लिये किया है। क्योंकि कार्य कारण में विलीन हो जाता है। जैसे वन में आग लग जाने पर छोटी-मोटी सब वस्तुएं एक साथ जलने लग जाती हैं, वैसे जहां के तहां सब मलों का नाश एक ही समय में होता है। विश्व देवता की मूर्ति का निर्माण सबसे पूर्व हुआ है,अतः उसका देह सब देहों का आदि है। विश्वदेवता, उसकी पिंडस्था, मल तथा फलिये को देह कहा है। सूत्र—

देह विदेहीं विलया जाए ।५।

शब्दार्थ—देह—देह नामक विश्वदेवता का मल, विदेहीं—विदेह नामक चैतन्य माया के मल में अर्थात् आद्यमल में,

विलया जाए——लय होता है।

भावार्थ——देह नामक मल विदेह नामक मल में लय होता है। जैसे सौ पत्ते एक साथ छिद गये दीखते हैं, परन्तु वस्तुतः उनमें भी सूई एक के पश्चात् दूसरे को छेदती है, किन्तु वह कार्य इतना जल्दी हो जाता है कि उसका क्रम दीखता नहीं। वैसे ही मलों का नाश एक ही समय में यथाक्रम होता है। अंत में कार्य प्रपंच अपने कारण प्रपंच में विलीन हो जाता है। सूत्र——

विदेह तें नित्य ।६।

शब्दार्थ——विदेह——विदेह नामक माया का मल, तें——वह, नित्य——अर्थात् दूसरे मलों की अपेक्षा इसके नाश में समय अधिक लगता है। वस्तुतः यहां नित्य शब्द का अर्थ सदा रहने वाला नहीं है।

भावार्थ——वह विदेह मल नित्य है। यहां नित्य शब्द के प्रयोग का इतना ही तात्पर्य है कि उसके नाश में समय अधिक लगता है। जैसे गीली और सूखी लकड़ी के जलने में समय ज्यादा और कम लगता है, वैसे आद्यमल तथा दूसरे मलों के नाश में समय अधिक तथा कम लगता है। जैसे किसी बर्तन को गरम करने पर उसमें का धब्बारूपी कलंक दिखाई देने लगता है, वैसे जीवस्वरूपगत दोष माया सामर्थ्य से प्रकट हो जाता है, जिसे आद्यमल नाम से कहा गया है। वस्तुतः आद्यमल चैतन्य माया का अंश नहीं है। उसका अंश तो नित्य होता है और यह अनित्य है। सृष्टि के आरंभ में जीव के पास माया का सामर्थ्य होता है। जैसे रेशम का कीड़ा अपने ऊपर जाल बुनकर स्वयं उसमें फंस जाता है, वैसे जीव में किसी

मल के रचने की वासना पैदा होते ही सामर्थ्य उस पर उस मल का जाल सा तान देता है और जीव उस मल से अपने को वही देवता समझ कर दूसरा मल रचने की वासना करता है। इस प्रकार वह विश्व से लेकर कर्मभूमि तक **इक्यासी करोड़ एक लाख पचीस हजार नौ** मलों (सूक्ष्म प्रपंच) की रचना करता है, जिससे जीवस्वरूप का विकास संकुचित हो जाता है और वह नाना प्रकार के निम्नकोटि के कर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। इन्हीं मलों को देखकर देवता उसे जीव कहने लगती है और उसे शुभाशुभ कर्म भुगवाती हैं। जैसे जीव मल और कर्म स्वयं करता है, वैसे अपरोक्ष में कर्मों का तथा सामान्यज्ञान में मलों का नाश भी कर सकता है।

कार्य अविद्या कारण अविद्येचां ठाइं विलया जाए।७।

शब्दार्थ—कार्य—कार्यरूप, अविद्या—मल, कारण—कारणरूप, अविद्येचांठाइं—मल में, विलया जाए—लय होते हैं।

भावार्थ—कार्य मल कारण मलों में विलीन हो जाते हैं। सूत्र में अविद्या मल को कहा है। पूर्व के सूत्रों में एक गुट की देवताओं के कार्य मलों का दूसरे गुट की देवताओं के कारण मलों में नाश होना बतलाया है और इस सूत्र में गुटों के अन्तर्गत छोटी देवताओं के कार्य मलों का बड़ी देवताओं के कारण मलों में नाश होना बतलाया है। देवता और मल का एक वर्ण होने के कारण वह अपने मल को देखकर उसे ही जीव कहती है। सूक्ष्म प्रपंच को मल कहा है। जीवस्वरूप की सूक्ष्मता के कारण उसे

माया आदि कोई भी देवता देख नहीं सकती। अतः माया अविद्याधार और दूसरी देवताएं मलाधार जीव को देखती हैं। जैसे पिता कारण और पुत्र कार्य है, वैसे माया निमित्त कारण तथा जीव कार्य हैं, क्योंकि माया के प्रयत्न से ही जीवों को सभी ने किसी न किसी आधार से देखा है।

इसी प्रकार जीव निमित्त कारण है और प्रपंच उसका कार्य। क्योंकि जीव ही प्रपंच को कार्यरूप में लाया है। सूत्र--

कार्य कारणीं विलया जाए ।८।

शब्दार्थ---कार्य---कार्य, कारणीं---कारणस्वरूप में, विलया जाए---विलीन होते हैं।

भावार्थ---कार्य कारणों में विलीन होते हैं। इस सूत्र में देवता और ईश्वर के कार्यों का कारणों में विलीन होना बतलाया है। जैसे कार्य मल कारण मलों में लय होते हैं, वैसे देवताओं के कार्य विग्रह, पिंडस्थाएं तथा सामर्थ्य अपने कारण रूप ब्रह्मांडस्थाओं में विलीन होते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के कार्य-रूप अवतार अपने कारणरूप निराकार स्वरूप में लय हो जाते हैं। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। सूत्र---

एक नित्यवर्ग एक अनित्यवर्ग ।९।

शब्दार्थ---एक, नित्य वर्ग---नाश न होनेवाली श्रेणी है, एक, अनित्यवर्ग---नाश होने वाली श्रेणी है।

भावार्थ---एक नित्य वर्ग है और दूसरा अनित्य वर्ग है। नित्य और अनित्य इन दो श्रेणियों में पदार्थों को विभक्त किया गया है। नित्य अर्थात् जिसका त्रिकाल में भी नाश न हो। अनित्य

अर्थात् जिसका कालान्तर में नाश हो जाए । सूत्र--

नित्यवर्गीं जीव देवता परमेश्वर उरेति ।१०।

शब्दार्थ--नित्यवर्गीं--नित्य श्रेणी में, जीव--आत्मा, देवता--शक्तियां, परमेश्वर--ईश्वर, उरेति--शेष रहते हैं ।

भावार्थ--नित्यवर्ग के जीव, देवता और परमेश्वर ये तीन पदार्थ हैं । इन तीनों में से जीव केवल अपने स्वरूप से शेष रहता है । क्योंकि संहार में जीवों के मलों का नाश हो जाता है और तमस्वरूप में जीवों का शरीर नहीं होता. अतः पिंडस्था तथा इन्द्रियों के सामर्थ्य वहां नहीं होते। ईश्वर तो सदा ही विद्यमान रहता है । उसे आकार शून्य साकार माना है । देवता अपने कारण स्वरूप में पंच प्रकारों सहित रहती हैं। क्योंकि संहार में प्रपंच का नाश हो जाने से उसके संबंध से होने वाले खेद, आह्लाद देवताओं को वहां नहीं होते । सूत्र--

अनित्यवर्गीं अनादि अविद्या कर्मलेप उरेति ।११।

शब्दार्थ--अनित्यवर्गीं--अनित्यवर्ग में, अनादि--जिसका आदि न हो, अविद्या--महार्णव अविद्या, कर्मलेप--कर्मों के चिन्ह, उरेति--शेष रहते हैं ।

भावार्थ--अनित्यवर्ग में अनादि अविद्या और कर्मलेप ये दो शेष रहते हैं ।

अनित्यवर्गीय अनादि अविद्या और कर्मलेप ये दोनों जीव स्वरूप आश्रित ही रहते हैं, क्योंकि अविद्या जीवस्वरूप में पानी में स्याही के समान मिली हुई है और कर्मलेप अविद्या पर लगे

होते हैं। संहार में मलों के समान कर्मों का नाश नहीं होता। क्योंकि वे जीवों को भोगने होते हैं और कर्मलेप न होने पर देवता कर्म भुगवा नहीं सकतीं। कर्मों का नाश भोगने से होता है तथा विशेष ज्ञान प्राप्त होने पर अविद्या का नाश परमेश्वर अवतार करते हैं। अतः अनित्य होने पर भी संहार में अविद्या और कर्मलेप दोनों शेष रहते हैं। सूत्र—

अनादि अविद्या कर्मलेपयुक्त जीव माया स्वरूपीं असत।१२

शब्दार्थ—अनादि—जिसका आदि न हो, अविद्या—महार्णव अविद्या, कर्मलेपयुक्त—कर्मों के चिन्हों सहित, जीव—आत्मा, माया स्वरूपीं—चैतन्य के तमस्वरूप में, असत—रहते हैं।

भावार्थ—संहार हो जाने पर अविद्या तथा कर्मलेपों से युक्त जीव माया के तमस्वरूप में रहते हैं। संहार होने से पूर्व जीवों को चतुर्विध कर्मफलों से निकाल कर माया के तमस्वरूप में पहुंचा दिया जाता है। माया के बिना दूसरी देवताएं अविद्या को देख नहीं सकतीं और कर्मलेप अविद्या आधार होते हैं। अतः माया कर्मलेप को मल पर प्रकाशित करके जिसका उसको दिखा देती है। तब देवताएँ अपना कर्मफल जीव को भुगवाती हैं।

देवता स्वरूपीं स्थिता होति।१३।

शब्दार्थ—देवता—देवताएं, स्वरूपीं—कारण स्वरूप में, स्थिता—स्थित, होति—हो जाती हैं।

भावार्थ—देवता अपने स्वरूप आश्रित हो जाती हैं। इस सूत्र में वोलगनी और ब्रह्मांडस्था इन दो देवता विभागों का

उल्लेख है। ये दोनों देवता विभाग भी संहार के समय अपने निराकार कारण स्वरूप आश्रित हो जाते हैं। सूत्र—

यापरी प्रपंच संहारे।१४।

शब्दार्थ—यापरी—इस प्रकार, प्रपंच—स्थूल, सूक्ष्म प्रपंच का, संहारे—संहार होता है।

भावार्थ—संहार के समय सबसे प्रथम जीवों को दुःख-सुख रूप कर्मफलों से निकाल कर तमस्वरूप में पहुंचा दिया जाता है। उसके पश्चात् स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपंच का संहार होता है। सूत्र—

माया परमेश्वराची प्रवृत्ति वोळगे।१५।

शब्दार्थ—माया—चैतन्य, परमेश्वराची—त्र्यंश ईश्वर की, प्रवृत्ति—इच्छा की, वोलगे—प्रतीक्षा करती है।

भावर्थ—सृष्टि का संहार हो चुकने पर माया ईश्वर की इच्छा की प्रतीक्षा में रहती है कि "मुझे सृष्टि रचना की आज्ञा प्रभु कब देते हैं।" माया अर्थात् मोह में डालने वाली। यह जीवों को भुलावे में डालकर उन्हें "चैतन्यमहम्" यह अन्यथा ज्ञान रूप शब्द कहने को प्रेरित करती है, जिससे जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं।

संसरण (रचना)

प्रकरणवश—श्रीचक्रधर स्वामी ने यह प्रकरण आचार्य श्रीनागदेव के प्रति सावखेड़ा में निरूपण किया था।

प्रकरण संबंध—स्थूलप्रपंच का संहार हो जाने पर जीव

कहां रहते हैं ? अथवा संहार हो चुकने पर माया ईश्वर की किस इच्छा की प्रतीक्षा करती है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये संहार के पश्चात् संसरण लिखा गया है ।

सारांश—मूल सृष्टि रचना से पूर्व ईश्वर, जीव, देवता और प्रपंच ये चारों पदार्थ अनादिकाल से अव्यक्त दशा में विद्यमान थे । ईश्वर स्वरूप अपने आनंद में मग्न था, क्योंकि वह नित्यानंद है । यक्षिणी से लेकर माया तक सभी देवताएं अपने-अपने स्वरूप आश्रित थीं । माया के तमस्वरूप में अनंत जीव अव्यक्त दशा में भ्रान्त पड़े हुए थे । प्रपंच अर्थात् पांचों महाभूत तथा तीनों गुण कारण रूप से भैरव देवताओं के स्वरूप आश्रित थे ।

ईश्वरीय इच्छा से माया इन चारों पदार्थों को सृष्टि में लाने के लिये चराचर ब्रह्मांड की रचना करती है ।

करुणामय परमेश्वर में जीवों को अपना आनंद देने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि जीव सर्वाधिकारी होने के नाते ईश्वर के आनंद को ग्रहण कर सकते हैं तथा अविद्या आदि बंधनों से छूटकर विशुद्ध और ईश्वरमय होकर उसके आनंद का उपभोग ले सकते हैं । देवता नित्यबद्ध होने से जीवों के सदृश ईश्वरीय आनंद को ग्रहण कर ही नहीं सकतीं । जड़ होने से प्रपंच को सुख दुःख का अनुभव हो ही नहीं सकता ।

निरानंद स्वरूप जीवों को ईश्वर बनने का अधिकार है, परन्तु वे विवश होकर तमस्वरूप में व्यर्थ ही पड़े रहते हैं । उनकी विवशता तथा असमर्थता पर दयालु परमेश्वर को दया आती है । तब वह उनके उद्धार के लिये माया द्वारा सृष्टि रचाता है । क्योंकि अव्यक्त दशा में जीवों का उद्धार हो नहीं सकता ।

स्थूल प्रपंच की रचना माया करती है और मायादत्त सामर्थ्य से सूक्ष्म प्रपंच की रचना जीव स्वयं करते हैं। इसीका सविस्तर वर्णन इस संसरण प्रकरण में आया है। सूत्र--

माया स्वरूपीं एकदेशीं तम असे ।१।

शब्दार्थ--माया--चैतन्यमाया के, स्वरूपीं--स्वरूप में, एकदेशीं--किसी एक प्रदेश में, तम--कालिमा, असे--है।

भावार्थ--माया स्वरूप के एक भाग में तम है। वस्तुतः माया स्वरूप का वर्ण हरित है। जैसे मनुष्य के शरीर पर काला तिल होता है, तद्वत् माया स्वरूप में तम है। माया शब्द का अर्थ है मायावी। यह माया जीवों को भुलावे में डालकर उन्हें "चैतन्य महम्" इस अन्यथा ज्ञान के लिये प्रवृत्त करती है, जिसके कारण जीव सृष्टि में आकर चतुर्विध कर्मफलों में बार-बार जन्म लेते हैं। यद्यपि तम को एकदेशीय कहा है, तथापि उसकी परिगणना नहीं हो सकती। जैसे आंगन में कूड़ाकर्कट अच्छा नहीं लगता, उसे बुहारकर एक ओर कोने में रखा जाता है, वैसे माया स्वरूप निर्मित अवगला तथा नित्यनरक व्यक्त ब्रह्मांड के बाहर विश्व के अव्यक्त स्वरूप में बनाये गये हैं। किन्तु माया का तमस्वरूप विश्व के अव्यक्त स्वरूप से भी आगे मायास्वरूप में विद्यमान है। इन दोनों के समान उसको बनाना नहीं पड़ता। अतः संहार में इन दोनों के समान उसका नाश भी नहीं होता।

ईश्वर सर्वद्रष्टा होते हुए भी नित्यनरक आदि की ओर उदासीन दृष्टि से देखते हैं--जैसे विरक्त पुरुष पदार्थ सामने होने पर भी अनासक्ति के कारण उसकी ओर ध्यान नहीं देते। जैसे माता

बच्चे को झूले में रखकर उसे झुला-झुलाकर प्रेम से सुला देती है, वैसे माया अपने तमस्वरूप में जीवों को भ्रान्त दशा में रखती है। माया के हरित तथा तमस्वरूप में कोई अन्तर नहीं। दोनों में सभी बातें एकसी हैं, केवल वर्ण विभिन्न हैं।

तमोनिमग्न जीव माया स्वरूपीं असत ।२।

शब्दार्थ––तमो––तम में, निमग्न––सुख दुःख रहित, जीव–आत्माएं, माया स्वरूपीं––चैतन्य माया के तमस्वरूप में,असत––रहते हैं।

भावार्थ––जीव माया के तमस्वरूप में भ्रान्त होकर रहते हैं। जैसे समुद्र के अगाध जल में सावकाश अनेक जलचर विचरते हैं, वैसे तमस्वरूप में पृथक्-पृथक् जीव भ्रान्त दशा में रहते हैं। यह तमस्वरूप अनंत ब्रह्मांड व्यापिनी माया के किसी एक प्रदेश में है और माया ईश्वर के अनंत स्वरूप में पृथ्वी-परमाणुवत् अज्ञात सी है।

जीवों को तम में उतनी अवधि तक रखा जाता है, जितनी अवधि तक वे सृष्टि में रहे हों। प्रत्येक जीवस्वरूप का व्याप सौ ब्रह्माण्ड के बराबर माना गया है। जीव अपने स्वरूप की महानता तथा ईश्वरीय आनंद अनुभव करने की योग्यता को जान सकें, अतः यह लिखा गया है। संलग्न तमस्वरूप में भी हरितस्वरूप के समान ही सुखानुभव करता है। क्या माता के स्तन काले होने पर बच्चा दूध की मिठास का अनुभव नहीं करता ?

जब जीव माया के स्वरूप आश्रित रह सकते हैं, तब उन्हें

अनंत ब्रह्मांडों में से निकालकर तमस्वरूप में एकत्र क्यों किया जाता है ? वे वहीं रहकर सृष्टि रचना होने पर मल रच सकते हैं और इससे तम में ले जाने और ब्रह्मांडों में पहुंचाने आदि का माया का कार्यभार भी कम हो जाता। परंतु यदि ऐसा माना जाता, तो **"देवता स्वरूपीं स्थिता होति"** (सूत्रपाठ) अर्थात् संहार होने पर सब देवताएं अपने-अपने निराकार स्वरूप आश्रित हो जाती हैं, इस भगवदुक्ति में बाधा पहुंचती, क्योंकि माया निर्मित अवगला, नित्यनरक तथा फलस्थ चिज्जड ये तीनों मायास्वरूप, जिनके आश्रित जीव रहते हैं, जैसे के वैसे बने रहते और इस भगवदुक्ति के अनुसार माया अपने स्वरूप आश्रित न हो सकती। इसलिये जीवों को तमस्वरूप में पहुंचाया जाता है। सूत्र—

परमेश्वरप्रवृत्ति माया तमोनिमग्ना जीवां चैतन्य महं ऐसे उपजवी ।३।

शब्दार्थ—परमेश्वर—त्र्यंश ईश्वर की, प्रवृत्ति—इच्छा से, माया—चैतन्य देवता, तमो—तम में, निमग्ना—निमज्जित, जीवां—जीवों को, चैतन्यम्—चैतन्य-संलग्न, अहम्—मैं हूं, ऐसे—इस प्रकार, उपजवी—कहने को लगाती है।

भावार्थ—परमेश्वर की इच्छानुसार चैतन्य माया तमस्वरूप स्थित जीवों को "मैं चैतन्य हूं" ऐसा कहने को विवश करती है। संलग्न चैतन्य देवता का अंश है, अतः उसे भी इस सूत्र में चैतन्य नाम दिया गया है। त्र्यंश ईश्वरस्वरूप की सृष्टि रचना विषयक इच्छा को जानकर माया अविलंब अपना कार्य आरंभ कर देती है। सर्वप्रथम वह तमस्थित जीवों तथा संलग्नों

से "चैतन्यमहम्" कहलवाने का कार्य करती है। जीव संलग्न को देखकर मैं चैतन्य (संलग्न) हूं, ऐसा कहता है और संलग्न अपने व्यापक माया स्वरूप को देखकर स्वयं एकदेशीय होने पर भी मैं व्यापक चैतन्य देवता हूं, ऐसा कहता है। चैतन्य शब्द का अर्थ है चेतन। माया स्वयं चेतन है और वह जडवत् मूढ जीवों में भी चेतनता लाती है, अतः उसे चैतन्य कहा है। चैतन्यांश होने के कारण संलग्न भी पंच प्रकार आदि शक्तियों से सम्पन्न था, परन्तु माया ने सब शक्तियां छीनकर उसे जीव के सदृश क्षीण-शक्ति बना दिया है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता, तो संलग्न किसी भी अवस्था में जीव के साथ न रहता और ज्ञानादि पंच प्रकारों के होने पर "चैतन्यमहम्" इस अन्यथा ज्ञान के लिये भी कभी तैयार न होता। जीव संलग्न के बिना पंगु तथा अंध के समान कुछ कर ही नहीं सकता। अतः दोनों की जोड़ी बनाई गई है, जिससे दोनों एक साथ रहें, "चैतन्यमहम्" कहें और मल रचना करें।

परमेश्वर की प्रवृत्ति उत्पन्न होने में निमेष मात्र का काल लगता है तथा प्रवृत्ति जानने के पश्चात् माया भी निमेष मात्र में अपना कार्य आरंभ कर देती है। ईश्वर तो सर्व समर्थ है। जीवों से "चैतन्यमहम्" कहलवाना उसके लिये कुछ भी कठिन नहीं था, परन्तु जैसे दास-दासियां होने पर स्वामी स्वयं कुछ भी कार्य नहीं करता, उसके सभी काम उनके द्वारा होते हैं, वैसे यह कार्य माया ही करती है। "चैतन्यमहम्" कहने से जीवों को आद्यमल आदि लग जाने से ये देवताओं के वशवर्ती बन जाते हैं। यदि जीवोऽहम् ये शब्द कहलवाये जाते, तो इससे अन्यथा ज्ञान, आद्यमल आदि जीवों को न लगते, क्योंकि मैं जीव हूं, यह कहना

तो यथार्थ ज्ञान है । इसी प्रकार "विश्वमहम्" कहलवाने से आद्य-मल नहीं लग सकता था । अतः मैं विश्व हूं, ऐसा कहलवाया नहीं गया । जैसे सेवक अपने स्वामी का नाम नहीं लेते, वैसे माया अपने स्वामी ईश्वर का नाम नहीं लेती । अतः उसने "ईश्वरोऽहम्" नहीं कहलवाया । मैं ईश्वर हूं, ये शब्द कहलवाने से आद्यमल आदि कार्य भी निष्पन्न नहीं हो सकते थे । इसलिये "चैतन्य महम्" कहलवाना ही उचित था । सूत्र—

माया जीवांतें विकरे संचरे विये प्रसवे हालवी डोचली उगळी लोटी ।४।

शब्दार्थ—माया—चैतन्यदेवता, जीवांतें—जीवों को, विकरे—विकारवान् बनाती है, संचरे—संचालन करती है अर्थात् तम में इधर से उधर हिलाती है, प्रसवे—आधा भाग तम में और आधा भाग हरित में करती है, हालवी—प्रत्येक ब्रह्मांड के अलग-अलग करती है, डोचली–चैतन्यमहम् इस पूर्व अन्यथा ज्ञान की पुनरुक्ति करवाती है, उगली—हरित स्वरूप में गिरा देती है, लोटी—जो जिस ब्रह्मांड के थे, उन्हें उसी ब्रह्मांड में डाल देती है ।

भावार्थ—ईश्वरीय आज्ञानुसार माया तमस्वरूप स्थित जीवों को विकारवान् बनाती है अर्थात् जो जीव जडवत् सामर्थ्य हीन भ्रान्त दशा में पड़े थे, उन्हें "चैतन्यमहम्" कहलवाकर कुछ शक्तिशाली तथा कार्य करने योग्य बनाती हैं । जैसे दूध का विकार दही माना है अर्थात् दूध का दहीरूप में परिवर्तन हो जाता है । वैसे जीवों की भी पूर्वस्थिति नहीं रहती । उनमें जो परिवर्त्तन होता

है, उसी का नाम विकार है।

जैसे गृह निर्माण से पूर्व उसका मानचित्र बना लिया जाता है और उसके अनुसार पश्चात् गृहरचना होती है। वैसे इस सूत्र में जीवों को ब्रह्मांड में भेजने का माया ने मानचित्र तैयार किया है, जिसके अनुसार वह रचना करती है। जिसका यथाक्रम वर्णन अग्रिम सूत्रों में है।

ईश्वरीय आज्ञानुसार ब्रह्मांड के अन्तर्गत होने वाले कार्यों को कर सकने की शक्ति देवतास्वरूप में होने पर भी वे जैसे अपने-अपने स्वरूपाश्रित शान्त बनी रहती हैं, वैसे जीवस्वरूप में ईश्वरमय बनने की सर्वाधिकार रूप शक्ति होने पर भी वे तम में निश्चेष्ट पड़े रहते हैं, किन्तु ईश्वर की प्रवृत्ति (इच्छा) से देवताएं शरीरधारी होकर ब्रह्मांड के कार्यों में लग जाती हैं, यही एक प्रकार का विकार है। इसी प्रकार जीव भी माया के प्रयत्नों से चेतनता को प्राप्त करके सृष्टि में मल रचना आदि कार्यों में लग जाते हैं। यही उनका विकारवान् बनना है। माया तो ईश्वर की प्रवृत्ति को जानते ही विकारवती बन जाती है। परन्तु जीवों को विकारवान् बनाने के लिये उसे कई बार प्रयत्न करना पड़ता है। सूत्र—

परमेश्वरप्रवृत्ति माया—व्यापार—वशें अविद्यात्मक जीव चैतन्यमहं ऐसे घेंउनि उठीति ।५।

शब्दार्थ—परमेश्वर—त्र्यंश ईश्वर की, प्रवृत्ति—इच्छा से, माया-वशें—माया के अधीन होकर, अविद्यात्मक—अविद्या-युक्त, जीव—आत्माएं, चैतन्यम्—चैतन्य (संलग्न) अहम्—

में हूं, ऐसे——ऐसा, घेउनि उठीति——कह उठते हैं।

भावार्थ——परमेश्वरीय इच्छा से माया के अधीन होकर जीव 'मैं चैतन्य हूं' ऐसा कहने लगते हैं। जीव माया के अधीन हों, यह ईश्वरीय इच्छा होने के कारण जीव माया के अधीन हो जाते हैं। अन्यथा वह अपने आप जीवों को अधीन करने की शक्ति नहीं रखती। उसका यह काम है कि वह जीवों को "चैतन्यमहम्" कहलवाये। ईश्वरीय इच्छा तथा अविद्या रूपी अज्ञानता के कारण जीव 'मैं चैतन्य हूं' यह माया का कार्य करने लग जाते हैं। क्योंकि ईश्वर ने चैतन्यमहम् कहलवाने का काम माया को सौंप रखा है, अतः उसे माया का व्यापार कहा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर को माया के द्वारा जीवों को चैतन्यमहम् कहलवाने की आवश्यकता क्या पड़ी थी ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम वचन में दिया है। जीव माया के आद्य-मल के बिना देवताओं के मल रचने में तत्पर नहीं हो सकते थे। अतः चैतन्यमहम् कहलवाकर जीवों को आद्यमल लगाया जाता है।

संहार में जैसे माया के तेरह व्यक्त विभाग अपने निराकार कारण स्वरूप में मिल जाते हैं, वैसे माया के व्यक्त चौदहवें विभाग संलग्न को भी मिल जाना चाहिये था। ये शेष क्यों रहते हैं ? क्योंकि सृष्टिरचना के समय जैसे तेरह विभाग फिर से विभक्त हो जाते हैं,वैसे ये भी विभक्त हो सकते हैं,परंतु ये विलीन तथा विभक्त होते नहीं,क्योंकि पृथक्-पृथक् जीवों को उनके द्वारा किये हुए कर्मों की याद दिलाने के लिये उनके संलग्नों का पृथक्-पृथक् बने रहना आवश्यक होता है। जैसे अंधे पुरुष को नेत्रवान्

मनुष्य मार्ग में आने वाली सब वस्तुओं का ज्ञान कराता रहता है, वैसे संलग्न जीवों को उनके कृत-कर्मों की बार बार याद दिलवाते रहते हैं। यह अमुक जीव है, ऐसा संलग्न नहीं जानते। उन्हें तो केवल कर्मों का ज्ञान होता है। यदि प्रति सृष्टि संलग्न बदल दिये जाते, तो यह एक महान् अन्याय होता। क्योंकि जिस जीव को जो संलग्न लगता, उसके कर्मज्ञान के अनुसार वे कर्म उस जीव को भुगतने पड़ते। "मां करे ते चट्टी दोहतया नूं" के अनुसार कर्म कोई करता और फल कोई दूसरा भोगता।

इसी प्रकार यदि दो जीवों का एक कर्म भोग सदृश भी हो तो भी संलग्नों का परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि इस कर्म के पश्चात् पुनः उन दोनों के कर्मों में अनेक प्रकार की विभिन्नता होती ही है। अतः संलग्न बदले नहीं जाते। जीवों की मुक्ति तक जिसका संलग्न उसी के साथ रहता है।

जैसे एक ही बार चैतन्यमहं कहने से जीवों को आद्यमल लग जाता है, वैसे एक अथवा अनेक बार मैं चैतन्य नहीं हूं, ऐसा कहने पर क्या वह धुल भी सकता है? नहीं, कभी नहीं, यदि जीव लाख बार सिर पटक कर कोशिश करें, तो भी आद्यमल को धो नहीं सकते। क्योंकि उसका नाश ईश्वर ही कर सकते हैं, जीव तथा माया नहीं। सूत्र—

चैतन्यमहं जीवां जन्म बोलिजे अन्यथा
ज्ञान बोलिजे आद्यमळ बोलिजे ।६।

शब्दार्थ—चैतन्यम्—संलग्न, अहम्—मैं हूं, (इससे) जीवां—जीवों का, जन्म—तमस्वरूप से बाहर आना, बोलिजे—

कहा है, अन्यथा ज्ञान—सर्प को रस्सी समझने का झूठा ज्ञान, बोलिजे—कहा है, आद्यमल—जीवस्वरूप का दोष, बोलिजे—कहा है ।

भावार्थ—मैं चैतन्य हूं, इस एक कर्म के करने से जीवों को तमस्वरूप से निकाल दिया जाता है, झूठ का भागी बनने से अन्यथा ज्ञान तथा आद्यमल लगाया जाता है। मल का अर्थ है संकुचित होना। आद्यमल इस नामकरण के तीन हेतु हैं। (१) सब मलों से आदि जो लगा हो, उसे आद्यमल कहते हैं। (२) आदे-रिदमिति-आद्यम् अर्थात् सब देवताओं की आदि माया ने जिसका निर्माण किया हो, उसे आद्यमल कहते हैं। तथा (३) अन्य मलों की रचना का जो कारण हो, उसे आद्यमल कहते हैं। इन मलों की रचना से जीवों को किसी प्रकार का दुःखानुभव नहीं होता। इससे उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है, परन्तु स्थूल प्रपंच के संयोग से जीवों को दुःख होता है। चैतन्यमहं एक बार कहने से जीवों को जन्म, अन्यथा ज्ञान तथा आद्यमल प्राप्त होते हैं। सूत्र—

माया सृष्ट जीव जीव सृष्ट प्रपंच ।७।

शब्दार्थ—माया—चैतन्यदेवता, सृष्ट—सृजन करती है, जीव—जीवों का, जीव—आत्माएं, सृष्ट—सृजन करती हैं, प्रपंच—जड़ प्रकृति का।

भावार्थ—माया जीवों का सृजन करती है और जीव प्रपंच का सृजन करते हैं। जीव और प्रपंच तो अनादि स्वतःसिद्ध पदार्थ हैं। फिर इस सूत्र में माया ने जीव बनाये और जीवों ने प्रपंच बनाया, ऐसा क्यों कहा ?

इसका तात्पर्य यह है कि जीव किसी को भी दीखते नहीं थे। यहां तक कि माया स्वयं भी जीवस्वरूप को देख नहीं सकती। वह भी अविद्या को देखकर उसे जीव कहती है। माया के प्रयत्न से जीव मल रचना में प्रवृत्त हुए हैं, जिनके कारण उन्हें देवताएं अपने मलाधार देखती हैं और सृष्टि में स्थूल प्रपंच के आधार होने पर जीव जीवों को देखते हैं। यदि माया जीव-विषयक अपना काम न करती, तो जीव सबके दृष्टिगोचर न होते।

तम में पड़े जीवों को देवताएं और जीव देख नहीं सकते थे। माया उन्हें सृष्टि में लाने का निमित्त कारण है, इसलिये कहा गया है कि माया ने जीव बनाये। इसी प्रकार प्रपंच भी भैरव देवताओं के स्वरूप में कारण रूप से विद्यमान था, परन्तु दृष्टिगोचर नहीं था। जीव प्रपंच को कार्यरूप में लाने का निमित्त कारण है और इसलिये कहा गया कि जीव ने प्रपंच को बनाया। सूत्र--

माया कृत जीव, जीव कृत प्रपंच ।८।

शब्दार्थ--माया--माया ने, कृत--कर्तृत्व किया है, जीव--जीवों का, जीव--जीवों ने, कृत--कर्तृत्व किया है, प्रपंच--प्रपंचका।

भावार्थ--माया ने जीवों का कर्तृत्व किया है और जीवों ने प्रपंच का कर्तृत्व किया है। न्याय शास्त्र में किसी भी कार्य के निमित्त कारण, समवायी कारण और असमवायी कारण ये तीन कारण माने गये हैं।

किसान कपास का निमित्त कारण है। कपास तन्तुओं की समवायी कारण है। वस्त्र में तन्तुओं का परस्पर संयोग

असमवायी कारण है। इस सूत्र में जो माया को जीव का कारण (कर्ता) माना है, वह निमित्त अर्थात् बहानामात्र होने से निमित्त कारण है, जैसे कपास का किसान। वह जीवों का समवायी कारण नहीं, क्योंकि जिससे जो वस्तु बने, वह उसका समवायी कारण होता है। जैसे कपास से तन्तुओं की उत्पति होती है, वैसे जीवों की उत्पत्ति माया स्वरूप से नहीं हुई। उसी प्रकार माया असमवायी कारण भी नहीं, क्योंकि जिसके बिना जो वस्तु बन ही न सके, उसे असमवायी कारण कहते हैं। जैसे तन्तुओं के संयोग के बिना वस्त्र बन ही नहीं सकता। इसी प्रकार जीव प्रपंच का निमित्त कारण है, समवायी तथा असमवायी कारण नहीं। सूत्र—

माया कार्य जीव जीव कार्य प्रपंच ।६।

शब्दार्थ—माया—माया का, कार्य—जिसके बाद जो दीखे वह कार्य होता है, जीव—जीव हैं, जीव—जीवों का, कार्य—जड़ प्रकृति है।

भावार्थ—माया का कार्य जीव हैं और जीवों का कार्य प्रपंच है।

यदनन्तरं यद् दृश्यते तत्तस्य कारणम्। अर्थात् जिसके पश्चात् जो दिखाई देता है, वह उसका कारण होता है। माया के प्रयत्नों के पश्चात् जीव दिखाई देते हैं, अतः जीव माया के कार्य हैं और माया उनका निमित्त कारण है। उसी प्रकार जीवों के प्रयत्न के पश्चात् प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, अतः प्रपंच जीवों का कार्य है और जीव उसका कारण हैं। सूत्र—

यापरी माया जीवांतें जन्मौनि आपण
उदासीन होए परि सूत्रातें न संडी ।१०।

शब्दार्थ—या परी—इस प्रकार, माया—चैतन्य देवता, जीवांतें—जीवों को, जन्मौनि—जन्म देकर, आपण—स्वयं, उदासीन—उदासीन, होए—हो जाती है, परि—परन्तु,सूत्रातें—मनोधर्म को, न—नहीं, संडी—छोड़ती है ।

भावार्थ—इस प्रकार माया जीवों को जन्म देकर अर्थात् अन्यथा ज्ञान तथा आद्यमल लगाकर तमस्वरूप से बाहर निकाल देती है। जीव-विषयक शारीरिक कार्य शेष न रहने से वह जीवों की ओर से उदासीन हो जाती है, परन्तु उसके मन की तार जीवों से बंधी रहती है। जैसे माता अपने बालक के सभी कार्य अपने शरीर से करती है, परन्तु जब बालक स्वयं अपने आप को संभाल लेता है, तब माता को शारीरिक कार्य नहीं करने पड़ते। तथापि मां का मन बच्चे में ही लगा रहता है कि कहीं वह गिर न जाये, कहीं उसे चोट न आ जाये आदि। जिस प्रकार राजा का मुख्य मन्त्री उस राज्य के छोटे-बड़े सभी कार्यों का ध्यान रखता है, क्योंकि उन सबको वह अपने राजा का समझता है। वैसे ही माया जीवों को अपने स्वामी ईश्वर का मानकर उनके,सभी कार्य करती है। जब जीव कर्म करने में स्वतंत्र हो जाते हैं तब भी उनमें माया का मन फंसा रहता है कि कहीं इनकी कोई बुराई न कर बैठे। सूत्र—

जीव मायेसि अधीन होए, का प्रपंचासि अधीन होए,
मध्यें असणें च नाहीं ।११।

शब्दार्थ—जीव—जीव, मायेसि—माया के, अधीन—

आश्रित, होए---होते हैं, का---अथवा, प्रपंचासि---प्रपंच के, अधीन---आश्रित, होए--होते हैं, मध्यें--दोनों के बिना बीच में कहीं और, असणें च नाहीं--रह ही नहीं सकते।

भावार्थ--जीव माया के तमस्वरूप के आश्रित रहते हैं अथवा स्थूल प्रपंच के आधार रहते हैं। इन दोनों के बिना वे अपने स्वरूप आश्रित रह ही नहीं सकते। जैसे पानी को लोटे का आधार रहता है, वैसे आधार आधेय संबंध से जीव तम अथवा स्थूल प्रपंच के आधार रहते हैं। आधार के बिना जो रह न सके, उसे आधेय कहते हैं। सूत्र--

जन्मला सांतां जीव क्षणपर्यंत शुद्ध असे मग मैळे।१२।

शब्दार्थ---जन्मला सांतां---जन्म लेकर, जीव---जीव, क्षण-पर्यंत---एक क्षण तक, शुद्ध--निश्चेष्ट, असे---होते हैं, मग--फिर, मैले--मलरचना करते हैं।

भावार्थ---तम से हरित स्वरूप में आने के पश्चात् जीव एक क्षण तक निश्चेष्ट पड़े रहते हैं और एक क्षण के पश्चात् मल रचना में लग जाते हैं।

अब यहां प्रश्न यह उठता है कि जीवों को माया का आद्य-मल लगा हुआ था, फिर उन्हें इस सूत्र में शुद्ध क्यों कहा है? क्योंकि आद्यमल प्रपंच निर्मित नहीं होता तथा पुष्प में गन्ध के समान अदृश्य रहता है, अतः उसे शुद्ध कहा है। जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव। जीव के कई जन्म माने गये हैं। तम से निकलना यह भी एक प्रकार का जन्म है। मल लग जाने पर देवताओं को दीखता है अतः देवताओं के लिये उसका यही जन्म है। स्थूल प्रपंच के

आधार इसे जीव माता के गर्भ से जन्म लेने पर देखते हैं, अतः यह भी इसका जन्म है। ज्ञान प्राप्त होना तथा अनुसरण लेना भी मोक्षमार्ग की दृष्टि से उसके नवीन जन्म के समान ही है।

जैसे मनुष्य पहले मन में यह संकल्प करता है कि आज अमुक पदार्थ खाना चाहिये और उसके पश्चात् वह पदार्थ बनाकर खाता है। वैसे जीव पहले मल लेने का संकल्प करते हैं और उसके पश्चात् मल रच कर ऊपर लेते हैं।

सूत्र में क्षण शब्द का प्रयोग किया है। एक घड़ी में साठ पल होते हैं। छह पलों का एक क्षण होता है। मनुष्य एक पल में छह बार श्वासोच्छ्वास लेता है। इस प्रकार एक क्षण में मनुष्य के छत्तीस श्वासोच्छ्वास होते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में दस अक्षरों का मनुष्य उच्चारण करता है। इस प्रकार छत्तीस श्वासोच्छ्वासों के तीन सौ साठ अक्षर बनते हैं। यदि साधक अठारह अक्षर वाले मन्त्र का स्मरण करने वाला हो, तो उसे बीस बार नाम उच्चारण करना चाहिये, ताकि उसे क्षण का ज्ञान हो सके। क्षण के परिज्ञानार्थ महानुभाव जयकृष्णी महात्मा बीस मणियों की मनगटी (छोटी माला) रखते हैं। जयकृष्णी लोगों की माला १०८ मणियों की होती है। वस्तुतः माला १०० मणियों की होनी चाहिये, क्योंकि माला केवल स्मरण के ही लिये नहीं होती, बल्कि कितने समय तक स्मरण किया, यह बताना भी माला का उद्देश्य है। भूल-चूक के लिये आठ मणि अधिक रखे गये हैं।

सूत्र—

चैतन्य मृत्तिकापर्यन्त मैळे, चैतन्यासवे जीव मृत्तिका पर्यन्त मैळे ।१३।

शब्दार्थ——चैतन्य——संलग्न, मृत्तिकापर्यन्त——जड़त्व के परमाणु तक, मैले——मलीन होता है, चैनन्यासवे——संलग्न के साथ, जीव——जीव, मृत्तिकापर्यन्त——जड़त्व के परमाणु तक, मैले——पापाचरण से मलीन होता है ।

भावार्थ——संलग्न जड़त्व के नरक में जाने लायक पापकर्म करता है, उसके साथ जीव भी पापकर्म करता हुआ सांसारिक पापों के सीमारूप जड़त्व के नरक तक अशुभ कर्म करता है ।

कर्मराहाटी अर्थात् सांसारिक अशुभ कर्मों में युक्त मनुष्य शरीर की हत्या यह सबसे बड़ा पाप कर्म माना गया है । संसार में इससे बुरा कोई अशुभ कर्म नहीं और जड़त्व से बढ़कर कोई नरक नहीं। मनुष्य शरीर की हत्या करने वाले को अथवा आत्महत्या करने वाले को जड़त्व के नरक भोगने पड़ते हैं। मनुष्य के हत्यारे जीव को जिस परमाणु के बीच में रखकर नाना प्रकार की असह्य यातनाएं भुगवाई जाती हैं, उसे जड़त्व का परमाणु कहते हैं।

देवतांश होने के कारण संलग्न को कर्मभोग भोगने नहीं पड़ते। संलग्न सदा जीव के साथ रहता है और कर्मराहाटी में इसी की प्रेरणा से वह कर्म करता है। यद्यपि इस प्रकार दोनों मिलकर कर्म करते हैं, तथापि कर्मभोग भोगने का सच्चा अधिकारी जीव है, संलग्न नहीं, क्योंकि देवताओं को जीवों के समान कर्मलेप नहीं लगते। जैसे कोई मनुष्य घोड़े पर बैठकर तीर्थयात्रा करने जाता है, परंतु तीर्थयात्रा के फल का अधिकारी मनुष्य होता है, घोड़ा नहीं। क्योंकि पशु शरीर में कर्मों की निष्पत्ति नहीं। पशु केवल पूर्वकृत कर्मों का भोग भोगते हैं। इस सूत्र में

संलग्न का जो पापभोग बतलाया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि जैसे हमारा मित्र मन्त्री-पद की प्राप्ति से आनंदित होता है और उसके आनंद से हम भी आनंदित हो उठते हैं। वस्तुतः मन्त्री पद से मिलने वाले सुखों का सच्चा अनुभव तो मित्र को ही होता है, परन्तु हम आनंद मान लेते हैं। वैसे कर्म फलों के सुख-दुःख भोग का सच्चा अधिकारी जीव ही होता है, संलग्न तो उसके सुख-दुःख को केवल अपना मान लेता है। सूत्र–

चैतन्य चैतन्यपर्यन्त उजळे, चैतन्यासवे जीव चैतन्य पर्यन्त उजळे ।१४।

शब्दार्थ–चैतन्य–संलग्न, चैतन्यपर्यन्त–मायास्वरूप की प्राप्ति तक, उजले–उज्वल (होता है), चैतन्यासवे–संलग्न के साथ, जीव–आत्मा (भी), चैतन्यपर्यत–मायास्वरूप की प्राप्ति तक, उजले–उज्वल, ऊर्ध्वगतिमान् होता है।

भावार्थ–संलग्न की ऊर्ध्वगति मायास्वरूप की प्राप्ति तक होती है और कर्मराहाटी में उसके साथ-साथ शुभ कर्म आचरण से जीव की भी उज्वल दशा मायास्वरूप की प्राप्ति तक होती है। संसार में अशुभ कर्मों के आचरण से जीवस्वरूप मलीन होता है। जैसे वस्त्र मलीन होने पर मनुष्य असावधानी से कहीं पर भी धूल आदि में निःसंकोच बैठ जाता है, वैसे मलीन जीवात्मा बड़े-बड़े पाप कर्म करने से घबराते नहीं। इसी प्रकार शुभ कर्मों के आचरण से जीवस्वरूप उज्वल होता है। जैसे साफ-सुथरे वस्त्र को हम मैला होने से बचाते रहते हैं, सब प्रकार से उन्हें स्वच्छ रखने का प्रयत्न करते हैं, वैसे शुद्ध आत्मा पुरुष शुभ कर्मों से उसे और

अधिक उज्वल बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे छोटे से छोटे भी मलीनता लाने वाले कर्म को छूते नहीं। देवताओं में सर्वश्रेष्ठ माया देवता बतलाई है, अत: संसार में मनुष्य की आत्मा अधिक से अधिक उज्वल होकर मायास्वरूप की प्राप्ति तथा सुखफल प्राप्त कर सकती है।

गरम लोहे को पीटने पर घन की चोटें लोहे पर पड़ती हैं, आग पर नहीं। यद्यपि संलग्न प्रत्येक योनि (शरीर) में जीव के साथ रहता है और कर्मराहाटी अर्थात् सांसारिक प्रत्येक कर्म में प्रेरणा भी करता है, तथापि सुख-दु:ख का भोग जीव को होता है, संलग्न को नहीं। दैवराहाटी अर्थात् ईश्वरार्पण किये हुए कर्मों में उसकी प्रेरणा नहीं होती। भक्त ईश्वरीय कर्म करने में स्वतंत्र हैं। ईश्वरीय कर्मों में संलग्न का चेष्टकत्व (प्रेरणा) नहीं होता, क्योंकि ईश्वरार्पण कर्मों के फल स्वयं ईश्वर देते हैं, देवताएं नहीं।

आनाचा करणा तयासि अभिमान ।१५।

शब्दार्थ—आनाचा—अन्य (दूसरे) के, करणा—कर्तव्य का, तयासि—उसको, अभिमान—अहंभाव, (होता है)।

भावार्थ—इस सूत्र में आना (अन्य) तथा तयासि (उसको) ये दोनों सर्वनाम होने से इनमें जीव और संलग्न दोनों का समावेश है। अत: अन्य अर्थात् जीव कर्म करता है और तयासि अर्थात् उस संलग्न को 'मैं करता हूं' यह व्यर्थ ही अभिमान रहता है। इसी प्रकार अन्य अर्थात् संलग्न कर्म करता है और (तयासि) उस जीव को 'मैं करता हूं' यह व्यर्थ ही अभिमान होता है।

पूर्व के सूत्रों में यह स्पष्ट कर दिया है कि संलग्न और जीव

दोनों मिलकर कर्म करते हैं। अतः इस सूत्र में उनके कर्तृत्व का परस्पर अभिमान बतलाया गया है। परन्तु यह निर्विवाद है कि संलग्न के प्रेरणात्मक कर्मों का अथवा स्वतंत्रता से किये हुए कर्मों के भोग का उत्तराधिकारी एकमात्र जीव ही है।

संलग्न और जीव में परस्पर विषमता पाई जाती है। दोनों का सतत संबंध होने पर भी वे एक दूसरे को जानते नहीं। जीव तम लोक का वासी है, दूसरा हरित का, अतः पड़ोसी भी नहीं। एक देवता का अंश तथा दूसरा जीव है। अतः दोनों की जाति भी एक नहीं है। सूत्र--

मग जीव प्रपंचातें रचि ।१६।

शब्दार्थ--मग--फिर, जीव--आत्मा,प्रपंचाते-प्रपंच की, रचि--रचना करता है।

भावार्थ-आद्यमल लगने पर एक क्षण के पश्चात् ही जीव देवताओं के मल रचने में प्रवृत्त हो जाते हैं। सबसे पूर्व जीव विश्वमल रचते हैं। उसके पश्चात् भैरव आदि सब देवताओं के मल रचते हुए जब कर्मभूमि की अन्तिम यक्षिणी देवता का मल रच लेते हैं, तब उनको दिया हुआ माया का सामर्थ्य चला जाता है और जीव उनमें फंसे रह जाते हैं। जीवों के साथ संलग्न भी मल रचना करते हैं। ये एक समय में एक ही देवता का एक ही मल रचने का सामर्थ्य रखते हैं। किन्तु कभी-कभी संलग्न और जीव पृथक्-पृथक् भी मल रचना करते हैं।

माया स्वरूप के सुख फल को जब जीव प्राप्त होते हैं, तब उनके मल अदृश्य कर दिये जाते हैं, ताकि वे अपने मलों को देख

न सकें। संलग्न के मलों का नाश हो जाता है। यदि मल ज्यों के त्यों बने रहते, तो संलग्न अपने को मलीन देखकर माया के सुख में मग्न न हो सकता। सुखफल भोगने के पश्चात् सृष्टि में संलग्न अकेला ही मल रचता है। जिस समय मल रहित संलग्न और अदृश्य मल वाले जीव माया का सुखानुभव कर रहे हों, उस समय यदि संहार करने का समय आ जाये, तो उस सुखफल से उन दोनों को निकाल लिया जाता है। संहार में जीवों के मलों का नाश हो जाता है, अतः मल रहित दोनों को तम में पहुंचा दिया जाता है। पुनः सृष्टि रचना होने पर जो जिस फल से निकाला गया है, उसे उसी फल में भेजा जाता है। इसलिये माया के सुखफल में जाने से पहिले जीव अकेला मल रचता है। संलग्न को मल रचने नहीं पड़ते, क्योंकि मल रहित होने पर ही संलग्न माया स्वरूप का सुखानुभव कर सकता है।

मलों को देवतामल कहा जाता है। इससे मलों की रचना देवताओं को करनी चाहिये थी, परन्तु देवताएं सूक्ष्म प्रपंच की रचना कर नहीं सकतीं। माया रच सकती है और नाश भी कर सकती है। स्थूल प्रपंच की रचना और नाश करने की शक्ति भैरव देवताओं में है। अन्य देवताओं में यह शक्ति भी नहीं। मलों के आधार देवताएं जीवों को देखती हैं, अतः उन्हें देवता मल कहा है। इसी प्रकार देवताएं जीवों को कर्मलेप लगा भी नहीं सकतीं तथा उनका नाश भी नहीं कर सकतीं। ईश्वर तो सर्व समर्थ है। वह जो चाहे कर सकता है। जैसे ईश्वर अवतार भगवान् श्री गोविन्द प्रभु ने एक कीड़े के कृमित्व रूप कर्मलेप को नष्ट करके उसे ब्रह्म-प्राप्ति प्रदान की थी। सूत्र—

कां रचि जे अधिमति अधगति अधरति म्हणौनि रचि।१७

शब्दार्थ--कां--क्यों, रचि-रचता है, जे--जो, (क्योंकि) अधमति--नीच बुद्धि वाला, अधगति--अधोगामी, अधरति-तुच्छ पदार्थों से प्रेम करने वाला, (है) म्हणौनि--इसलिये, रचि--रचता है।

भावार्थ--जीव मल रचना क्यों करते हैं ? क्योंकि जीव अधोमति, अधोगति और अधोरति वाले हैं, अतः मल रचना करते हैं। अध शब्द का अर्थ है नीचे। मति-बुद्धि, गति-गमन, रति-प्रेम। जीव के पास मतित्रय होने से वे मल रचते हैं। क्योंकि जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, वैसे जीव स्वभावतः अशुभ कर्म करने में प्रसन्न होते हैं। इसी मतित्रय के कारण जीव ईश्वर की भक्ति नहीं करते। माया के हरित स्वरूप में आने पर जीवों को अपनी नग्न अवस्था का आभास होता है और थोड़े ही समय में वे निश्चय कर लेते हैं कि हम नंगे हैं, अतः वे विश्व देवता का अधोमति के कारण मल रचने का संकल्प करते हैं। संकल्प के साथ ही माया का सामर्थ्य उन पर सूक्ष्म प्रपंच का जाल सा बुन देता है। अधोगति के कारण वे उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह मेरा वस्त्र है, ऐसा समझकर अधोरति के कारण उस मल से मोह कर बैठते हैं। यहां तक कि 'मैं विश्व-देवता हूं' ऐसा जीव कह उठते हैं। इस अन्यथा ज्ञान के कारण उन्हें विश्व मल लग जाता है और थोड़े ही समय में वे फिर अपने आपको नग्न समझने लगते हैं। इस प्रकार वे अन्तिम यक्षिणी देवता तक सब देवताओं के मल रचते हैं। उनमें एक काल में

एक ही देवता का एक ही मल रचने का सामर्थ्य होता है ।

जीव मतित्रय के कारण मल रचते हैं, परंतु उनका नाश नहीं कर सकते । मलों के अलग होने के लिये ईश्वरीय कृपा की आवश्यकता होती है, जो अतीव सौभाग्यवश प्राप्त होती है । सूत्र--

काइसेनि रचि तै तया सामर्थ्य आत ।१८।

शब्दार्थ--काइसेनि--किससे, रचि--रच लेते हैं, तै--उस समय, तया--उनके पास, सामर्थ्य--शक्ति, आत--थी ।

भावार्थ--जीव मल रचना क्यों कर सकते हैं ? उस समय उनके पास माया का दिया हुआ सामर्थ्य रहता है । अतः वे मल रचना में सफलता प्राप्त करते हैं । जीव मल रचना करें और उनके मल नष्ट हो जायें, इन दोनों बातों के लिये ईश्वरीय इच्छा का होना अत्यावश्यक है । ईश्वर की इच्छा को जान कर माया अपने कार्य में तत्पर हो जाती है और उनसे 'चैतन्यमहम्' कहलाकर आद्यमल प्रकाशित करती है,जिससे जीवों को दूसरी देवताओं के मल रचने की इच्छा उत्पन्न होती है । इस प्रकार मल रचना के समय माया का ही मानसिक तथा शारीरिक व्यापार (कार्य) होता है । शरीर प्राप्त होने पर जीव शारीरिक कर्म स्वयं करते हैं, किन्तु माया का मनोधर्म बना रहता है। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने पर जीव ईश्वर के मनोधर्म से मलों का नाश कर लेते हैं । सूत्र--

मग जीव नाहीं--तेचि--एक गन्धर्व नगराकार विश्व रचि, तया माजि रीगे, तादात्मक होय, विश्वमहं ऐसे बूझे ।१९।

शब्दार्थ---मग---फिर, जीव---आत्मा, नाहीं---नहीं, तेचि-वही, एक---अद्वितीय, गन्धर्व नगर+आकार---गन्धर्वों के नगर के समान अनित्य, विश्व रचि---विश्वदेवता का मल रचता है, तया माजि---उस में, रीगे---प्रवेश करता है, तादात्मक-उसके समान, होय-होता है, विश्वम्-विश्वदेवता, अहम्-मैं हूं, ऐसे-ऐसा, बूझे-जानता है, मान लेता है।

भावार्थ---माया का सामर्थ्य प्राप्त होने के पश्चात् जीव अभूतपूर्व गन्धर्वों के नगर के समान अधोमति के कारण विश्व-देवता का मल रचता है तथा अधोगति के कारण उसमें प्रवेश करता है और अधोरति के कारण उसी में रम जाता है। मोह के कारण अपने को विश्व देवता समझ लेता है। यदि 'नाहीं' शब्द जीव शब्दके साथ जोड़ दिया जाये, तो अर्थ होगा-जीव मल रचना नहीं करता, केवल संलग्न ही करता है। यदि 'नाहीं'को 'तेचि' के साथ जोड़ दिया जाये, तो अर्थ होगा-अभूतपूर्व अर्थात् जिसकी रचना किसी प्रतिकृति को देख कर न की गई हो अथवा जिसके समान पहिले कोई न हो और न आगे बन सके। जीवों की मल रचना में ईश्वरीय इच्छा कारणीभूत है, अतः सूत्र में जीवों की मल रचना का उल्लेख किया है। मल रचना में जीव अग्रगामी रहते हैं, उन्हें देख-देखकर संलग्न मल रचते हैं। सूत्र--

मग जीव नाहीं तेचि-एक गंधर्व नगराकार अष्टधा प्रकृति रचि, तिये माजिरीगे, तादात्मक होए, प्रकृतिरहं ऐसे बूझे।२०।

शब्दार्थ---मग-फिर, पश्चात्। जीव-आत्मा, नाहीं-नहीं,

तेचि—वही, एक—अद्वितीय, अभूतपूर्व, गंधर्व नगराकार—गंधर्वों के नगर के समान, अष्टधा—आठ प्रकार के, प्रकृति—भैरवों के मल, रचि—रचते हैं, तियेमाजि—उनमें, रीगे—प्रवेश करते हैं। तादात्मक होय—उनको अपना समझ लेते हैं, अपने को प्रकृति (भैरव) मान लेते हैं।

भावार्थ—विश्वमल रचने के पश्चात् जीव भैरव देवताओं के अभूतपूर्व मल रचते हैं, उनमें प्रवेश करते हैं और उन्हें अपने समझकर 'हम प्रकृति हैं' ऐसा मान लेते हैं। भैरवों के मलों को अभूतपूर्व इसलिये कहा है कि विश्वमल का भी अनुकरण नहीं किया जाता। एक महद्भूत में आठों भूत होते हैं। एक प्रधान सात अनुषंगिक। विश्व मल रचने के समय आठों भूतों में से केवल आठ कारण भूत अर्थात् प्रधान भूत निकाल कर जीव मल रचते हैं। किन्तु भैरवों की मल रचना के समय समल भूत अर्थात् अनुषंगिक भूत भी साथ ही रहते हैं। सारांश यह कि विश्वमल केवल आठ कारण भूतों का होता है और प्रकृतिमल में चौंसठ भूत होते हैं। ऐसे चौंसठ भूतों वाले आठ भैरवों के आठ मल रचकर जीव अपने ऊपर लेते हैं। सूत्र—

मग जीव नाहीं तेचि एक गंधर्व नगराकार अनेकधा विकृति रचि, तिये माजि रीगे, तादात्मक होए, विकृतिरहं ऐसे बूझे।२१।

शब्दार्थ—शब्दार्थ पूर्ववत् हैं। अनेकधा—नाना प्रकार के, विकृति—क्षीराब्धि तथा कैलास, वैकुंठ तथा सत्यलोक की देवताओं के मल।

भावार्थ—प्रकृति मल रचने के पश्चात् जीव विकृति मलों को रचकर अपने ऊपर लेकर अपने को विकृति मान लेते हैं। क्षीराब्धि कैलास, वैकुंठ तथा सत्यलोक की देवताओं को विकृति कहते हैं। यहां की नौ करोड़ एक लाख पचीस हजार देवताएं हैं। जीव उन सबके पृथक्-पृथक् मल रचकर अपने ऊपर लेता है और अपने को विकृति मान लेता है। सूत्र—

मग जीव नाहीं तेचि एक गंधर्व नगराकार अनेकधा विकृतिविकृति रचि तिये माजि रीगे तादात्मक होय विकृतिविकृतिरहं ऐसे बूझे ।२२।

शब्दार्थ—शब्दार्थ पूर्ववत् है। विकृतिविकृति—कर्मभूमि से स्वर्ग तक की देवताओं के मल।

भावार्थ—विकृति मल रचने के पश्चात् जीव विकृति नामक बहात्तर करोड़ देवताओं के मल रचते हैं। मोहवश उनको अपना मानकर अपने को विकृति-विकृति देवता समझ लेते हैं। विकृति अर्थात् विचित्र। इन देवताओं में परस्पर विचित्रता पाई जाती है, अतः इनके मलों में भी अतीव विभिन्नता होती है। इसीलिये इनको विकृति-विकृति कहते हैं। जैसे बुनकर अपने यौवन काल में सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुन्दर वस्त्र बुनता है, परन्तु वृद्धावस्था में वैसा कलापूर्ण काम नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी काम करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। वैसे विश्वमल रचने के पश्चात् जीवों की भी सामर्थ्य-शक्ति क्षीण हो जाती है। सूत्र—

यापरी मनुष्यपर्यन्त मंळे ।२३।

शब्दार्थ—यापरी—इस प्रकार, मनुष्य-कर्मभूमि की अन्तिम

यक्षिणी देवता, पर्यन्त—तक, मैले—मल रचना करता है।

भावार्थ—इस प्रकार विश्वमल से लेकर यक्षिणी के मल तक जीव मलों की रचना करते हैं। जीवों को मिले हुए माया सामर्थ्य में सूक्ष्म प्रपंच (मल) रचने की शक्ति होती है, स्थूल प्रपंच रचने की नहीं। अतः स्थूल प्रपंच की रचना माया करती है। यद्यपि मल रचना का सामर्थ्य जीवों के पास से चला जाता है, परंतु मल रचना का अध्यास उन्हें बना रहता है। उनका यह अध्यास (इच्छा) चेतन कर्मफलों (शरीरों) में प्रविष्ट होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जड़त्व में दुःख संचार होने पर नष्ट होता है।

मग जीव चतुर्विधा कर्मफला जाति ।२४।

शब्दार्थ—मग—फिर, जीव—आत्माएं, चतुर्विधा—चार प्रकार के, कर्मफला—कर्म फलों में, जाति—जाते हैं।

भावार्थ—मल रचना हो जाने पर जीव अपने-अपने कर्म भोग के अनुसार चार प्रकार के कर्मफलों (शरीरों) में जाते हैं। ईश्वर कृपालु है। दीनबन्धु होने के कारण वह जीवों की भलाई चाहते हैं, अतः उनके विधान के अनुसार सृष्टि रचना हो जाने पर जीवों को पहिले सुखफलों में डाला जाता है। उनमें भी अधिक सुखवाले कर्मफलों में पहिले और कम सुखवालों में पश्चात् डालने का क्रम है तथा संहार होने से पूर्व अधिक दुःख-दायी नरकों में से जीवों को पहिले निकाला जाता है और सुख-फलों से पश्चात्। दयालु ईश्वर जीवों को अधिक से अधिक सुख भुगवाने में प्रसन्न रहते हैं तथा दुःख कम से कम भोगें ऐसी

इच्छा रखते हैं। वह सर्व समर्थ है। ईश्वर यदि चाहे, तो जीवों को सब नरकों से छुट्टी दिला सकते हैं, परन्तु वैसा करना सृष्टि चक्र के नियमों में बाधक है। सृष्टि-नियमानुसार सृष्टि-चक्र चलता रहे, यह भी ईश्वरेच्छा ही तो है। सूत्र---

स्वर्ग नरक कर्मभूमि मोक्ष यातें चतुर्विध कर्मफळ बोलिजे ।२५।

शब्दार्थ--स्वर्ग--सुखफल, नरक--दुःखफल, कर्मभूमि--मनुष्य शरीर, मोक्ष--देवता--सुख, यातें--इनको, चतुर्विध--चार प्रकार के, कर्मफल--कर्मों का भोग, बोलिजे--कहते हैं।

भावार्थ---स्वर्ग, नरक, मनुष्य शरीर तथा मोक्ष ये चार प्रकार के कर्मफल हैं। मनुष्य शरीर में जीव जो शुभाशुभ कर्म करते हैं, उन कर्मों का अच्छा-बुरा फल उन्हें भुगवाया जाता है। स्वर्ग अर्थात् सुख। कर्मभूमि से लेकर स्वर्गलोक तक की देवताओं की मूर्तियों में जो सुख मिलता है उसे स्वर्ग कहा है। उसी प्रकार भोगभूमि तथा पाताल के मनुष्यों के सुख को भी स्वर्ग कहा है। नरक अर्थात् दुःख। मनुष्य शरीर के नीचे पशु आदि योनियों में जाकर जो कर्मभोग भोगा जाता है, उसे नरक कहा है। कर्मभूमि अर्थात् कर्म निष्पन्न होने का स्थान---मनुष्य शरीर। जड़ कर्मभूमि में मनुष्य शरीर के बिना अन्य किसी भी शरीर में कर्म लेप निष्पन्न नहीं होते। कर्मभूमि में युक्त मनुष्य शरीर के आश्रित जीव जो कर्म करते हैं, उनका कर्मलेप निष्पन्न होता है। मनुष्य द्वारा जड़ कर्मभूमि के बिना अन्यत्र कहीं पर भी कर्म करने पर कोई कर्मलेप निष्पन्न नहीं होता। इस सूत्र में कर्म-

भूमि शब्द के प्रयोग से मनुष्य शरीर और जड़ कर्मभूमि दोनों का संयोग अपेक्षित है। यदि मनुष्य शब्द का प्रयोग किया होता तो कहीं पर भी मनुष्य शरीर कर्मलेप निष्पन्न होने का अधिकारी समझा जाता। मोक्ष अर्थात् सुख। ब्रह्मादि देवताओं से लेकर चैतन्य देवता तक के जो सुख जीव भोगते हैं, उसे मोक्ष कहा है। यहां मोक्ष शब्द ईश्वरीय नित्य मुक्ति का परिचायक नहीं है। सूत्र––

यापरी मागौति जैसी असिली तैसी सृष्टि रचि।२६।

शब्दार्थ––यापरी––इस प्रकार, मागौति–फिर से, जैसी–जिस प्रकार, असिली–थी, तैसी–वैसी, सृष्टि–संसार, रचि–रचती है।

भावार्थ––ईश्वर माया द्वारा प्रथम बार सृष्टि की जैसी रचना कराते हैं अथवा संहार से पहले जैसी रचना होती है, संहार के पश्चात् होने वाली रचना भी ठीक उसीकी तरह की जाती है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सूत्र––

माया परमेश्वराची प्रवृत्ति वोळगे।२७।

शब्दार्थ––माया–चैतन्य देवता, परमेश्वराची–त्र्यंश ईश्वर की, प्रवृत्ति–इच्छा, वोलगे–जानने की प्रतीक्षा करती है।

भावार्थ––माया परमेश्वर की इच्छा जान लेने की प्रतीक्षा करती रहती है। माया को गीता में प्रकृति कहा है। यह ईश्वर की सबसे बड़ी शक्ति है। ईश्वर सृष्टि की रचना तथा संहार इसी के द्वारा करवाते हैं। माया अर्थात् मोह तथा भ्रम में डालने वाली। त्र्यंश अर्थात् ब्रह्म, माया तथा ईश्वर ये तीन स्वरूप जहां

विद्यमान हों। इसी त्र्यंश ईश्वर स्वरूप में रचना, संहार तथा उद्धरण ये तीन प्रवृत्तियां समय-समय पर उत्पन्न होती हैं। जो इच्छा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाये, उसे प्रवृत्ति कहते हैं। जो उत्पन्न होने पर देर तक बनी रहे, उसे इच्छा कहते हैं। माया रचना के पश्चात् ईश्वर के अवतरण की प्रवृत्ति जानने की प्रतीक्षा में रहती है।

उद्धरण

प्रकरणवश—इस प्रकरण के कुल ६६ छहसठ सूत्र हैं। उनमें से पहले ग्यारह सूत्र डोमेग्राम में भगवान् श्रीचक्रधर जी ने श्री माहिमभट्ट जी के प्रति निरूपण किये थे।

श्रीचक्रधर स्वामी **पैठन** नगर में **गणपतमठ** में रहा करते थे। श्रीनागदेव आदि बहुत से भक्त लोग भगवान् की सेवा में रहते थे। उनमें **डांगरेश** नाम का एक कुत्ता भी था। पशु योनि होने पर भी उसका भगबान् के चरणों में बड़ा अनुराग था। एक दिन किसी प्रसंग पर भगवान् ने भक्त जनों से कहा, "यदि आप लोग हमारी आज्ञा का परिपालन नहीं कर सकते, तो आप सभी यहां से चले जायें।" सबके चले जाने पर भी जब भगवान् ने डांगरेश को बैठे हुए देखा, तो भगवान् ने कहा "आप भी चले जायें।" इतना सुनते ही वह उठा तथा भगवान् की प्रदक्षिणा करके मन्दिर से बाहर जाकर आकाश की ओर ऊपर मुख उठाकर प्रभु-वियोग में करुण चीत्कार करके भौंका। गांव के पास थोड़ी दूर पर एक पानी का नाला था। उसके दलदल में गर्दन तक मुख को फंसाकर उसने प्राण दे दिये।

नागदेव आदि भक्त जन कुछ समय के पश्चात् जब भगवान् की सेवा में वापिस आकर उपस्थित हुए, तो भगवान् ने पूछा, "क्यों जी, आप सब तो आ गये, किन्तु डांगरेश नहीं दीखते।" तब नागदेव जी ने कहा—"प्रभो ! पेट भरने के लिये कहीं गया होगा।" किन्तु श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा—"नहीं, वह ऐसा नहीं कर सकता। उसे ढूंढ लाओ।" जब अन्वेषण के पश्चात् भक्त जन लौटे, तो नागदेव ने कहा, "भगवन् ! डांगरेश ने देह त्याग किया है।" भगवान् ने कहा **"मरा मरा पोरे हो तुम्हां पशि वर शुने चांग, जे एथिचा वियोग साहो न सकेचि।"** अर्थात् "अजी, तुमसे से तो वह पशु कुत्ता ही अच्छा निकला, जिसने हमारा वियोग सह न सकने के कारण अपना शरीर छोड़ दिया।" इस प्रसंग पर भगवान् ने बारह से बीस तक के सूत्रों में ज्ञान तथा प्रेम मार्ग का निरूपण किया और अन्तिम साध्य पर तीन सूत्र बतलाये।

एक दिन भगवान् श्रीचक्रधर जी वन विहार के लिये गये हुए थे। उनके साथ सारंगपंडित नाम के एक ब्राह्मण थे। मार्ग में तालाब के प्रवाह के कारण कीचड़ था। भगवान् छलांग लगा कर पार हो गये, परन्तु पंडित जी कुछ न कर सके। इतने में गांव के पशु पानी पीने वहां आ पहुंचे। उनकी भीड़ को देखकर पंडित जी ने घबराकर भगवान् से प्रार्थना की, "प्रभो ! आप मुझे अपने हाथ का सहारा दें, ताकि उस पार कूद सकूं। जरा विलंब होते ही ये पशु मुझे रौंद डालेंगे।" भगवान् के हाथ बढ़ाने पर पंडित जी पार जा पहुंचे और भगवान् से बोले, "प्रभु ! मैं पूरी तरह आपके हाथ को छू भी न पाया था और इस पार आ गया, यह क्या चमत्कार है ?" इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा,

"पांडेया, एथ अनुसराल तर ऐसें च काढीजैल ।" (सूत्रपाठ) अर्थात् "पंडित जी, यदि आप हमारी आज्ञानुसार चलेंगे, तो इसी प्रकार आपको इस संसार सागर से पार किया जायेगा ।" चलते हुए जब पिपल्लेश्वर पहुंचे, तो भगवान् आसन पर विराज गये। पंडित जी ने सामने बैठकर पूछा "क्यों महाराज ! आप प्रतिदिन मुझे अनुसरण लेने को कहते हैं । वह क्या है ?" इस पर भगवान् ने इक्कीस से सत्तावन तक अनुसरण-विषयक सूत्रों का निरूपण किया, जिनमें शाब्द, अपरोक्ष, सामान्य तथा विशेष ज्ञान का वर्णन है ।

एक बार भगवान् श्रीचक्रधर जी ढोरेश्वर मन्दिर में निवास करते थे। एक दिन सारंगपंडित के साथ भगवान् वालवंठी प्रदेश की ओर घूमने जा रहे थे। मार्ग में सारङ्गपंडित से एक मनुष्य ने पूछा "ये कौन हैं ?" उन्होंने कहा, "ये द्वारका निवासी श्री चांगदेव जी महाराज हैं ।" उसने पूछा, "यह क्या जानते हैं ?" तब पीछे की ओर मुड़कर भगवान् ने कहा, "हम जीव और अविद्या का विभाग करना जानते हैं और सम्पूर्ण शास्त्रों का सारांश जानते हैं ।" जब भगवान् ढोरेश्वर मन्दिर लौट आए, तो श्री नागाम्बिका देवी ने पूछा, "भगवन् ! अविद्या किसे कहते हैं ?" भगवान् ने कहा, "मूल अविद्या महार्णव अविद्या ।" इस प्रसंग पर भगवान् नें चौपन से सत्तावन तक अविद्याछेद के तीन वचनों का निरूपण किया । आगे के साध्यवाक्य हैं ।

प्रकरण संबंध—संसरण प्रकरण के अन्त में लिखा है कि माया परमेश्वर की इच्छा की प्रतीक्षा करती है। रचना के पश्चात् अव माया किस इच्छा की प्रतीक्षा करती है ? वह ईश्वर की

उद्धरण प्रवृत्ति की प्रतीक्षा करती है। अतः संसरण के आगे उद्धरण प्रकरण लिखा है। सूत्र--

सृष्टि मध्यें परमेश्वर अवतरति ।१।

शब्दार्थ--सृष्टि मध्यें--ब्रह्मांड के मध्य में, परमेश्वर--त्र्यंश ईश्वर, अवतरति--अवतार धारण करते हैं।

भावार्थ--सृष्टि में जीवों का उद्धार करने के लिये निर्गुण निराकार होते हुए भी ईश्वर अवतार धारण करते हैं। सृष्टि अर्थात् रचना। जिसमें आठों महाभूतों का स्थूल रूप में विस्तार हो तथा चारों पदार्थों की रचना की गई हो, उसे सृष्टि कहा है। अंडे के समान गोल होने से इसे ब्रह्मांड कहते हैं। जिसका आदि अन्त होता है, उसका मध्य भी रहता है। ब्रह्मांड का मध्य कर्म-भूमि है। जीवों को संसार में शुभाशुभ कर्म भुगवाये जाते हैं। मनुष्य शरीर से ऊपर देवता फल हैं, जिनमें सुख फल की सीमा चैतन्य देवता का सुखफल है और दुःख फलों की सीमा जड़त्व है। तथा सुख-दुखों की मध्यम अवस्था कर्मभूमि अर्थात् मनुष्य शरीर है। इसी प्रकार ब्रह्मांड का मध्य भाग जड़ कर्मभूमि है तथा देवता स्वरूपों का भी वह मध्य प्रदेश है। यहीं पर ईश्वर अवतार की सम्पूर्ण वोलगनियां तथा मनुष्य पिंड की सम्पूर्ण पिंडस्थाएं होती हैं, अतः इसे मध्य कहा है। परमेश्वर अर्थात् परम ऐश्वर्यवान्, जो जीवों को ईश्वर बनाने की शक्ति रखता हो। अवतार अर्थात् रूप धारण करता है। जैसे लोग यंत्र-मन्त्र कीर्तन आदि करके देवी का आव्हान करते हैं और वह किसी के शरीर में प्रगट होकर उन्हें दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के उपाय

बतलाती है, वैसे ईश्वर अवतार मनुष्य शरीर धारण करके अपने भक्तों को ज्ञान, प्रेम देता है और अपनी सेवा करने का शुभावसर प्रदान करता है। ईश्वर सर्व समर्थ है, सर्व व्यापक है, तथापि उसके स्वरूप के मुख्यत: त्र्यंशस्वरूप, अव्यक्त विश्वस्वरूप, व्यवत विश्वस्वरूप और अवतार इन चार स्थानों से अवतार होते हैं।

ब्रह्मांड को व्यक्त विश्व कहते हैं, क्योंकि विश्वदेवता की मूर्ति में ही चराचर जगत् की रचना है। मूर्ति अर्थात् व्यक्त ब्रह्मांड से बाहर जो विश्वदेवता का स्वरूप है, उसे अव्यक्त विश्वरूप कहते हैं। अव्यक्त विश्वरूप की सीमा समाप्त हो जाने पर माया, ब्रह्म तथा ईश्वर ये तीन स्वरूप शेष रहते हैं, जिसे त्र्यंश कहा है। इसी त्र्यंश स्वरूप में रचना, संहार और उद्धरण की प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, किन्तु अवतार धारण करने की प्रवृत्ति इस स्वरूप के अतिरिक्त अव्यक्त विश्व, व्यक्त विश्व तथा ईश्वर अवतार इन तीन स्वरूपों में भी उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि ईश्वर स्वरूप इनमें भी व्यापक है। उसे सर्व व्यापक कहा गया है। इन चार स्व-रूपों में से किसी भी एक स्वरूप में यदि अवतार धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो, तो इन चारों स्वरूपों में से अवतार हो सकता है। यदि त्र्यंश स्वरूप में इच्छा उत्पन्न हो कि "मैं अव-तार धारण करूं", तो यह प्रतिबंध नहीं कि अवतार भी उसी त्र्यंश स्वरूप से हो। यहां इच्छा उत्पन्न होने पर ईश्वर अव्यक्त विश्व आदि किसी भी स्थान से अवतार धारण कर सकते हैं। एक स्वरूप में इच्छा उत्पन्न होने पर चारों स्थानों से अवतार हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि चारों ही स्थानों से हों, किन्तु

हो सकते हैं। यदि त्र्यंश स्वरूप में अवतार धारण करने की इच्छा उत्पन्न हो, तो चार अवतार हो सकते हैं। एक त्र्यंश से, दूसरा अव्यक्तविश्व स्वरूप से,तीसरा व्यक्त विश्वरूप से और चौथा अव तार से अवतार। इसी प्रकार अव्यक्त विश्वस्वरूप में व्यापक ईश्वर स्वरूप में अवतार धारण करने की इच्छा उत्पन्न हो, तो भी चार अवतार हो सकते हैं–एक अव्यक्त विश्व स्वरूप से, दूसरा व्यक्त विश्वरूप से,तीसरा त्र्यंश से और चौथा अवतार से अवतार। यदि व्यक्त विश्वरूप के अन्तर्गत ईश्वर स्वरूप में अवतार धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो,तो भी चारों स्थानों से अवतार हो सकते हैं। एक व्यक्त विश्व से, दूसरा अव्यक्त विश्वरूप से, तीसरा त्र्यंश से और चौथा अवतार से। यदि ईश्वर अवतार को अवतार धारण करने की इच्छा उत्पन्न हो, तो भी पांच स्थानों से अवतार हो सकते हैं। एक त्र्यंश से, दूसरा अव्यक्त विश्वरूप से, तीसरा व्यक्त विश्व से, चौथा अवतार से और पांचवां एक अवतार की इच्छानुसार दूसरे अवतार से अवतार।

ऐसे चार चौक सोलह तथा सत्रहवां भेद एक अवतार को प्रवृत्ति होने पर दूसरे अवतार से अवतार हो सकता है, क्योंकि **"परमेश्वरस्यानंता अवतारा भूते वर्तमाने भविष्ये च।"** (सूत्रपाठ) परदर्शी, अवरदर्शी तथा परावरदर्शी ये तीन प्रकार के ईश्वर अवतार होते हैं। परदर्शी अर्थात् मुक्ति देने वाले। अवरदर्शी अर्थात् देवताओं के सुखफल देने वाले। परावरदर्शी अर्थात् मुक्ति और देवता फल दोनों के देने वाले, इन्हें उभयदर्शी भी कहते हैं।

देवता स्वरूपों में दो भावनाएं होती हैं। एक होने की,जिसमें से ब्रह्मांडस्थाएं होती हैं। दूसरे बचे रहने की, जिसमें से बोल-

गनियां होती हैं ।

कृपा धर्म के कार्य अवतार में पाये जाते हैं । जब ईश्वर अवतार मनुष्य तथा मायावेष स्वीकार करते हैं, तब देवताओं के धर्म खेद, आह्लाद और मनुष्यों के अष्टस्वभाव आदि धर्म स्वीकार करते हैं, जो अवतार का मायापुर न रहने पर समाप्त हो जाते हैं। सूत्र—

मनुष्य वेष धारिए होति ।२।

शब्दार्थ—मनुष्य–पुरुष का, वेष–बाना, धारीए होति–धारण करते हैं।

भावार्थ—ईश्वर साकार होने के लिये मनुष्य का शरीर धारण करते हैं। मनुष्य वेष अर्थात् उसके हर्ष, विषाद, विस्मृति, देहद्वंद्व, मनोद्वंद्व, तोष तथा क्रोध आदि गुणधर्म स्वीकार करते हैं। ईश्वर अवतार क्रोध इसलिये स्वीकार करते हैं कि यदि जीवों को ईश्वर हमसे उदास हो जायेंगे, यह भय न होता, तो शायद 'मनुष्याणां सहस्रेषु' के अनुसार भी कोई भक्ति न करता। वेष अर्थात् कृत्रिम। जैसे बहुरूपिया अपने यथार्थ रूप को जानकर भी दूसरे रूपों को धारण करता है, वैसे ईश्वर अपने स्वरूप को जानते हुए भी मनुष्य वेश को स्वीकार करते हैं। वेश कृत्रिम होने पर भी ईश्वर द्वारा स्वीकार किये जाने से जीवों के लिये यथार्थ है, क्योंकि अव्यक्त ईश्वर तो अविक्रिय तथा तृप्तकाम है। उसे हम स्वार्थी जीव किसी प्रकार भी प्रसन्न नहीं कर सकते। ईश्वर अवतार की सेवा से तथा निर्हेतुक भोजन खिलाने से जीव ज्ञान तथा प्रेम को प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।जैसे देह

में जीव का व्याप रहता है, वैसे मायापुर में ईश्वर स्वरूप व्याप्त रहता है। सूत्र--

माया वेष धारीए होति ।३।

शब्दार्थ--माया-माया का, वेष--शरीर, धारीए होति-धारण करते हैं।

भावार्थ--परमेश्वर माया का शरीर धारण करते हैं। ईश्वर अवतार के मनुष्य शरीर को मायापुर कहते हैं। इस मायापुर के लिये जड़, अजड़, चिज्जड़ ये माया के तीन विभाग विभक्त होते हैं। जड़ माया मनुष्य शरीर का आकार बनती है। अजड़ माया इन्द्रियां तथा चिज्जड़ माया अन्तःकरण बनती है। मायापुर में शरीर, इन्द्रियां, अंतःकरण सब कुछ माया ही बनती है, परन्तु जीवों के मनुष्य शरीरों में भिन्न-भिन्न देवताओं के सामर्थ्य होते हैं। माया आदि देवताओं के गुण-धर्म ईश्वर स्वीकार करते हैं, जिसे वेश कहा है। ईश्वर स्वरूप तो निराकार, अविक्रिय, तृप्तकाम है। उसे हम भोजन आदि खिला नहीं सकते। भोजन आदि की रुचि माया ही लेती है, क्योंकि इन्द्रियां तथा अन्तःकरण वही बनती है। तथापि भोजन आदि सेवा से प्रसन्न होकर उस कर्म का फल ईश्वर अवतार स्वयं देते हैं। अतः **"अहेतुक मायापुरभजन प्रेमाप्रति साधन।"** (सूत्रपाठ) अर्थात् ईश्वर अवतारों को निष्काम भोजन खिलाने से प्रेम तथा ज्ञान का अधिकार निकलता है। परदर्शी अवतार को भोजन खिलाने से एक कलिका प्रेम निष्पन्न होता है। पर और अवर दोनों शक्तियों का स्वीकार करके भी कई ईश्वर अव-

तार किसी एक ही शक्ति का दान करते हैं ।

द्वारावतीकार उभयदर्शी थे, परन्तु उन्होंने पर शक्ति के कार्य बन्द कर दिये थे, केवल देवताओं की अवर विद्याओं का ही दान देते थे । अर्थात् परशक्ति के कार्य वे कर तो सकते थे परन्तु करना नहीं चाहते थे । जैसे कोई वस्तु होने पर भी हम छुपा देते हैं, वैसे ईश्वर अवतार भी पर-अवर में से अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक को छुपा लेते हैं, उसे मराठी में आछादनीचा अवतार अर्थात् आच्छादन करने वाला कहते हैं । अतः श्रीद्वारावतीकार जी पर-आच्छादन के अवरदर्शी अवतार थे । पर आच्छादक अवरदर्शी अवतार को भोजन खिलाने से दो कलिका का प्रेम निष्पन्न होता है । श्री गोविन्द प्रभु जी अवर-आच्छादन के परदर्शी अवतार थे । अवर आच्छादक परदर्शी अवतार को भोजन खिलाने से तीन कलिका का प्रेम निष्पन्न होता है और उभयदर्शी अवतार को भोजन खिलाने स चार कलिका के पूर्ण प्रेम का अधिकार निष्पन्न होता है ।

ईश्वर के अवतार धारण से जीवों को अनेक लाभ होते हैं। ईश्वरावतार अपनी कृपा से हम जीवों को **संबंधदान, लीलादान, ग्रहणादान** तथा **कैवल्यदान** ये चार प्रकार के दान देते हैं । ईश्वर अवतार के स्पर्श से मिलने वाले सुखों को संबंधदान कहते हैं । यदि तिर्यंच अवतार किसी पक्षी की आत्मा को शरीर में से निकाल दे, तो उनकी इस क्रीड़ा को **'उत्तटने की लीला'** कहते हैं । अर्थात् तिर्यंच शरीर छोड़कर जाने वाली आत्मा को सुखफल मिलते हैं—जिसे लीलादान का फल कहते हैं। उसे संबंधदान का सुख भी मिलता है । हमारे कर्मलेप के अनुसार ईश्वरावतार जो

दान दें, उसे ग्रहणादान कहते हैं। चौथा कैवल्यदान है।कैवल्य-दान अर्थात् ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति। सूत्र--

मायापुर धारीए होति ।४।

शब्दार्थ--मायापुर-मायापुर को, धारीए होति-धारण करते हैं।

भावार्थ--ईश्वर अवतार मायापुर को धारण करते हैं। मायापुर मायास्वरूप का बना होता है। इसमें देहधर्म, जीवधर्म, मनुष्यधर्म, देवताधर्म, माया के धर्म, पर, अवर शक्ति का स्वीकार, स्वरूपगत गुण, जड़, चेतन शक्तियों का स्वीकार होता है तथा चारों दान आदि सब बातें सम्पूर्ण होने से इसको मायापुर कहते हैं। जैसे पानी में बुदबुदा उठता है और उसी के आधार फिरता है, वैसे ईश्वर मायापुर धारण करके अपने स्वरूप में विचरते हैं। सूत्र--

मायानिर्मितं पुरं मायापुरम् ।५।

शब्दार्थ--मायानिर्मितं-माया द्वारा निर्माण किये हुए, पुरम्-शरीर को, मायापुरम्--मायापुर कहते हैं।

भावार्थ--माया द्वारा निर्माण होने से इसे मायापुर कहते हैं। जैसे माया कृतयुग के मनुष्य शरीर प्रपंच के निर्माण करती है, क्या वैसे ही ईश्वर का पुर निर्माण करती है ? नहीं, मायापुर वह अपने स्वरूप का ही बनाती है।

माया घटाकारें आकारें ओते ।६।

शब्दार्थ--माया-चैतन्य देवता, घटाकारें-घट+आकारें शरीर की आकृति का, आकारें-आकार बनाती है, उसमें, ओते-

अपना स्वरूप उंडेलती है।

भावार्थ——माया पहले शरीर की आकृति बनती है और फिर उसमें अपने स्वरूप को उंडेल देती है। जड़ माया ईश्वर शरीर का ढांचा बनती है। अजड़ माया इन्द्रियां बनती है तथा जिज्जड़ माया अन्तःकरण बनती है। जड़ को यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं होता। अजड़ को अपने तक ही ज्ञान होता है। चिज्जड़ का भी ज्ञान अपर्याप्त होता है।

यहां तक कि दो अवतारों के एकत्र होने पर मायापुर बने हुए ये तीनों माया स्वरूप परस्पर एक दूसरे को देख नहीं सकते।

नख चर्म रोमादि करौनि शुद्ध चैतन्यच ते ।७।

शब्दार्थ——नख–नाखून, चर्म–त्वचा, रोमादि–रोम + आदि–रोंगटे आदि, करौनि–करके, ते–वह, शुद्ध चैतन्य–उरी के भाव में की माया, च–ही, है।

भावार्थ——उरी के भाव में से विभक्त शुद्ध जड़ माया ही नख, चर्म तथा रोंगटों से युक्त मायापुर बनती है। माया के जो विभाग केवल मायापुर के लिये विभक्त होते हैं, उन्हें शुद्ध कहा है। इसी को उरी का भाव अर्थात् शेष बचे रहने का भाव कहा गया है। अब यह शंका उठती है कि गर्भ में ईश्वर अवतार का मायापुर तो शुद्ध जड़ माया बनती है, परन्तु जब ईश्वर हरिपाल के शरीर के समान किसी के मृत शरीर को अथवा किसी जीवात्मा को शरीर से निकालकर उसके शरीर को स्वयं स्वीकार करते हैं, तो क्या ईश्वर के ये शरीर प्रपंच के ही होते हैं? यद्यपि ये दोनों शरीर प्रपंच निर्मित होते हैं, परन्तु ईश्वर के स्वीकार

करने से पूर्व उनके प्रपंच को शुद्ध करके उसके स्थान पर स्वयं जड़ माया ही शरीर का आकार बनती है, किन्तु मुखाकृति में परिवर्तन नहीं करती। उन दोनों प्रकार के अवतारों को **पतित** स्वीकार (पड़ा हुआ मुर्दा उठाना) तथा **दवडणें** अर्थात् किसी शरीर से जीव को निकालकर उसका शरीर स्वीकार करना कहा है। तीसरा प्रकार ईश्वर अवतार का गर्भ में प्रकट होना है। जब मायापुर आपाद मस्तक शुद्ध जड़ माया ही बनती है, तब बाल बनाने वाला तथा नख काटने वाला मनुष्य क्या पाप का अधिकारी नहीं होता होगा ? नहीं, क्योंकि **"सेवकासि अविधि नाहीं"** अर्थात् सेवक को पाप नहीं लगता।

मायापुरीं मायेसि अभिमान ।८।

शब्दार्थ—मायापुरीं–मायापुर में, (होनेवाले सुख दुःखों का) अभिमान–आत्मीयता की भावना, मायेसि–माया को, होती है।

भावार्थ—ईश्वर के मायापुर को पहुंचाये जाने वाले कष्टों का प्रतिशोध (बदला) वोलगनी माया लेती है। जैसे पशु तथा पिंडस्था आदि को कष्ट पहुंचाने पर वे स्वयं उसका प्रतिशोध ले नहीं सकते। मायापुर बने हुए जड़ आदि मायास्वरूपों में प्रतिशोध लेने की शक्ति नहीं होती। ईश्वर तो निराभिमान हैं, अतः उनमें प्रतिशोध की भावना ही उत्पन्न नहीं होती। श्री गोविन्द प्रभु आदि ईश्वर अवतारों के जीवन में किसी को मारने आदि का जो उल्लेख आता है, वह उनकी लीला है, जिससे जीवों का भला होता है। उसमें प्रतिशोध की भावना नहीं होती।

सूत्र--

ब्रह्मांडी शक्ति अधीन शक्तिव्यापार, मायापुरीं ईश्वराधीन शक्तिव्यापार ।६।

शब्दार्थ---ब्रह्मांडी–ब्रह्मांडस्थाओं में, शक्ति अधीन–बड़ी देवताओं की आज्ञा से, शक्तिव्यापार–छोटी देवता कार्य करती हैं, (किन्तु) मायापुरी–ईश्वर अवतार के पास, ईश्वराधीन–ईश्वर अवतार की आज्ञा से, शक्तिव्यापार–वोलगनीं देवताएं कार्य करती हैं ।

भावार्थ---ब्रह्मांड के अन्तर्गत सृष्टि के कार्यों के लिये विभक्त हुई ब्रह्मांडस्थाओं में यह नियम है कि बड़ी देवता की आज्ञा छोटी देवताएं मानती हैं, किन्तु मायापुर की सेवा के लिये विभक्त हुई वोलगनियों में यह नियम नहीं है । वे सब ईश्वर अवतार की आज्ञा का परिपालन करती हैं । सूत्र--

मायापुरीं इतरशक्तितुल्य माया ।१०।

शब्दार्थ--मायापुरीं–ईश्वर अवतार के पास, इतरशक्तितुल्य–दूसरी देवताओं के समान, माया–चैतन्य माया है ।

भावार्थ---ईश्वर अवतार के पास वोलगनी माया दूसरी देवताओं की वोलगनियों के समान होती है। यह साकार ईश्वर की व्यवस्था है । निराकार ईश्वर की तो माया सर्वश्रेष्ठ मुख्य शक्ति मानी गई है, जिसकी आज्ञा में सब देवताओं को रहना होता है । सूत्र--

ईश्वरीं सम्पूर्णा शक्ति, जीवीं अंशतां शक्ति ।११।

शब्दार्थ---ईश्वरीं–ईश्वर के अवतार के पास, सम्पूर्णा–

शरीरधारी, शक्ति–देवताएं, होती हैं। जीवीं–मनुष्य शरीरों में, अंशतां-अंशरूप से, शक्ति–देवताएं, होती हैं।

भावार्थ—ईश्वर की वोलगनियां रूप शक्तियां स्वतंत्र शरीर धारी होती हैं, किन्तु पिंडस्थाएं जीवों के मनुष्य शरीरों में अंश रूपेण मेद मांस के आश्रित रहती हैं। वोलगनियां तथा ब्रह्मांडस्थाएं देवताओं के निराकार स्वरूप से विभक्त होती हैं। वोलगनियां सदैव अवतार की सेवा में तत्पर रहती हैं तथा ब्रह्मांडस्थाएं ईश्वरीय विधान के अनुसार सृष्टि के अन्तर्गत कार्य करती हैं। पिंडस्थाएं (देवतांश) विग्रह (देवता अवतार) तथा सामर्थ्य ये तीनों ब्रह्मांडस्थाओं से विभक्त होते हैं। पिंडस्थाओं को शरीर में जीवात्मा के होने अथवा न होने का ज्ञान होता है। क्योंकि शरीर में जीवात्मा के होने पर पिंडस्थाओं को ब्रह्मांडस्थाओं से विभक्त होकर आना होता है तथा शरीर में जीवात्मा के न होने पर उन्हें वापस जाकर अपनी-अपनी ब्रह्मांडस्थाओं में विलीन होना पड़ता है। ये शरीर आश्रित ही रह सकती हैं और अपने मूल स्वरूप की सीमा से बाहर जा नहीं सकतीं। यदि बाहर से कोई मनुष्य इनके स्वरूप के भीतर आ जाये, तो उसके शरीर में रहने के लिये ये आ जाती हैं और इनके मूल स्वरूप से बाहर जाने वाले मनुष्य के शरीर से निकलकर ये ब्रह्मांडस्थाओं में विलीन हो जाती हैं। इसी प्रकार शरीर का अंग-भंग हो जाने पर आश्रय के अभाव में ये अपने कारण स्वरूप में चली जाती हैं, किन्तु यदि अंग का थोड़ा-सा भी भाग शेष बचा हो, तो ये उसमें रह सकती हैं तथा अंग ठीक हो जाने पर पुनः उसमें आकर रहने लगती हैं। यदि कोई विद्यावंत अपने शरीर को

छोड़कर दूसरे के शरीर में प्रवेश करे, तो ये त्यक्त शरीर से निकल जाती हैं तथा स्वीकार किये हुए शरीर में दूसरी पिंडस्थाएं आ जाती हैं। अर्थात् एक शरीर की पिंडस्थाएं दूसरे शरीर में नहीं जातीं। वे अपने कारण में विलीन हो जाती हैं। अतः टूटा हुआ अंग ठीक हो जाने पर भी उसमें जो पहले रहती थीं, वे ही वापिस आती हैं, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। देवताओं की वोलगनियों तथा ब्रह्मांडस्थाओं के शरीर में पिंडस्थाएं नहीं होतीं, उनके विग्रह और फलियों के शरीरों में भी पिंडस्थाएं नहीं होतीं, क्योंकि उनके शरीरों में मेद-मांस नहीं होता और उन्हें कर्म निष्पत्ति तथा विद्या का भी अधिकार प्राप्त नहीं होता। इसी अधिकार की प्राप्ति के लिये भी पिंडस्थाओं का होना आवश्यक होता है।

पिंडस्था अर्थात् पिंड में रहने वाली। **"पिंड के हनन से ब्रह्मांड का हनन होता है।"** पिंड अर्थात् नाशवान्। देवता शरीर सृष्टि पर्यंत नित्य होते हैं तथा उनमें क्षीयते, वर्धते——आदि षड्-विकार नहीं होते। अतः वे पिंड नहीं। पिंड न होने से उनमें पिंड-स्था भी नहीं होतीं।

पशु आदि के शरीरों में मेद-मांस होने पर भी पिंडस्थाओं के न होने का कारण यह है कि उनका अंतःकरण नहीं होता। कर्म भूमि स्थित मनुष्य शरीरों में सम्पूर्ण पिंडस्थाएं होती हैं। अन्यत्र कम अधिक होती हैं। ईश्वर के शरीर में पिंडस्थाएं नहीं होतीं।

इसी प्रकार कर्मभूमि में ही ईश्वर अवतार के पास सम्पूर्ण वोलगनियां होती हैं। अन्यत्र न्यूनाधिक होती हैं। ये भी अपने कारण स्वरूप से बाहर जा नहीं सकतीं। किन्तु इनके स्वरूप से

बाहर अवतार के जाने पर ये अपनी-अपनी स्वरूप सीमा पर बैठकर अवतार के लौटने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। वापस आ जाने पर उनकी सेवा में तत्पर हो जाती हैं। मायापुर का अंग-भंग हो जाने पर भी ये सभी बनी रहती हैं, क्योंकि मनुष्य शरीर की पिंडस्थाओं के समान ईश्वर शरीर के भीतर इनका निवास नहीं होता। ये अपने-अपने शरीर आश्रित होती हैं। यदि ईश्वर अवतार एक शरीर छोड़कर किसी और शरीर को धारण करें, तो ये उस नये शरीर के पास चली जाती हैं। क्योंकि उनका ज्ञान तथा सामर्थ्य उनके कारण स्वरूप के तुल्य होता है। ईश्वर शरीर को मायापुर कहते हैं। गर्भ में ईश्वर के प्रकट होते ही ये आ जाती हैं।

जीवों के उद्धार के लिये यह अटल नियम है कि जीव तथा ईश्वर अवतार दोनों में भी सब प्रकार की सम्पूर्णता होनी चाहिये। क्योंकि यदि जीव के मनुष्य शरीर में एक भी पिंडस्था कम हो तो वह ज्ञान-प्रेम का अधिकारी नहीं रहता और यदि ईश्वर अवतार ने सम्पूर्ण शक्ति स्वीकार न की हों, तो वह जीव को मुक्ति नहीं दे सकता। सूत्र—

ईश्वर प्राप्ति के ज्ञान तथा प्रेम दो मार्ग—

ऐंसिया मायापुराते स्वीकरौनि कर्मभूमिस्थितां मनुष्य देह युक्तां जीवां ज्ञान पर्यंत परमेश्वर आपुला संबंध देति ।१२।

शब्दार्थ—ऐंसिया—पूर्वोक्त, मायापुरातें—मायापुर को, स्वीकरौनि—स्वीकार करके, कर्मभूमिस्थितां—कर्मभूमि (भारत) में

रहने वाले, मनुष्य देह युक्तां—मनुष्य शरीरधारी, जीवां—जीवों को, ज्ञान पर्यंत—ज्ञान देने तक, परमेश्वर—ईश्वर अवतार, आपुला—अपनी श्रीमूर्ति का, संबंध—संयोग, देति—देते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार के मायापुर को स्वीकार करके परमेश्वर कर्मभूमि में युक्त मनुष्य शरीर वाले जीवों को ज्ञान देने तक अपना संबंध देते हैं। वैसे मुर्दे का कुछ भी मूल्य या महत्व नहीं होता, परन्तु ईश्वर के स्वीकार करने पर उसका महत्व एकदम बढ़ जाता है और वह जीवों को चारों दान देने लग जाता है। सम्पूर्ण देवताएं उसकी सेवा में तत्पर रहती हैं। वह सृष्टि के जीवों का उद्धार करने लग जाता है। परमेश्वर अर्थात् उभयदर्शी अवतार, जो जीवों को ईश्वर बनाने की शक्ति रखता हो। कर्मभूमि अर्थात् 'हिमासेतुमध्यें पाचशतें कर्मभूमि' स्थितां अर्थात् उसमें रहने वाले। युक्त अर्थात् जिसके सर्व अंग परिपूर्ण हों और इन्द्रियां तथा अन्तःकरण ठीक-ठाक अपना काम करते हों। जीव अर्थात् आत्मा। जीवरूप बने हुए संलग्न को ज्ञान का अधिकार नहीं। यदि ईश्वर अवतार में चौदह बातें हों, तो तब वह ज्ञान देने का सामर्थ्य रखता है। वे चौदह बातें हैं—(१) सृष्टि, (२) कर्मभूमि, (३) मायापुर, (४) मनुष्य आकृति, (५) देहधर्म, (६) जीवधर्म, (७) माया के धर्म, (८) देवताओं के धर्म, (९) सौन्दर्यादि गुण, (१०) नित्यत्वादि धर्म, (११) विज्ञान शक्ति, (१२) अवर शक्ति, (१३) परशक्ति तथा (१४) ईश्वरीय प्रवृत्ति।

जीवों में सात बातें होने से वे ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। वे सात बातें हैं—(१) कर्मभूमि, (२) मनुष्यत्व, (३) युक्तत्व,

(४) कर्माधिकार, (५) देहाधिकार, (६) मूलाधिकार, (७) ज्ञानाधिकार।

इस सूत्र में कर्मभूमि का उल्लेख इसलिये किया है कि इसके बिना जीवों को कर्म निष्पन्न ही नहीं होते। मनुष्य इसलिये कहा है कि इस शरीर के बिना अन्य किसी भी शरीर में ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पिंडस्था पूर्ण न होने पर जीवों को विद्या का अधिकार प्राप्त नहीं होता। पशुओं को कर्मों की निष्पत्ति नहीं होती, यह एक प्रकार की ईश्वर की कृपा है। ईश्वर अपनी कृपा से कर्मों में न होने पर भी लीलादान से जीवों को मनुष्य शरीर देते हैं। कइयों को प्रेम अधिकार निष्पन्न कराने के लिये बड़ी प्रसन्नता से उनके भोजन को स्वीकार करते हैं। कइयों को भोगभूमि से कर्मभूमि में लाकर ज्ञान, प्रेम देते हैं। ईश्वर अपने लीलादान से जो मनुष्य शरीर देते हैं, उससे किये जाने वाले पुण्य का फल जीवों को मिलता है, परन्तु पापों का नहीं। उस शरीर में दुःख भोग सहने पर अनेक जन्मों के दुःखरूप कर्म नष्ट हो जाते हैं और पुण्य संचित होते रहते हैं। सूत्र—

एकां प्रेम संचरति ।१३।

शब्दार्थ—एकां–कइयों को, प्रेम–प्रेम शक्ति का, संचरति–संचार करते हैं।

भावार्थ—ईश्वर अवतार कई भाग्यशाली जीवों को अपनी प्रेम शक्ति का संचार करते हैं। परदर्शी, अवर-आच्छादक परदर्शी, पर आच्छादक अवरदर्शी तथा उभयदर्शी इन चार मायापुर धारी ईश्वर अवतारों को निर्हेतुक भोजन खिलाने से प्रेम

का अधिकार निष्पन्न होता है। जिन्होंने पूर्वजन्म में यह अधिकार प्राप्त किया हो, उन्हें प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम प्राप्त होने पर प्रेमी ईश्वर अवतार के वियोग में जीवित नहीं रह सकता। परस्पर दृष्टि मिलने पर अवतार दृष्टि-द्वारा भक्तों को प्रेम-शक्ति का संचार करते हैं। ईश्वर अवतार की ओर पीठ करके बैठने वालों तथा अन्धों को प्रेम शक्ति का संचार नहीं होता। सूत्र—

प्रेम बोलिजे भक्ति बोलिजे।१४।

शब्दार्थ—प्रेम को प्रेम तथा भक्ति, बोलिजे—कहते हैं।

भावार्थ—प्रेम को भक्ति भी कहते हैं। नाम भेद का कारण यह है कि शक्ति संचार की पूर्व अवस्था को प्रेम कहा है और उत्तर अवस्था को भक्ति। जैसे बोध की उत्तर अवस्था को ज्ञान कहते हैं और पूर्व अवस्था को बोध। ज्ञान प्राप्त होने पर बोध-वंत संज्ञा प्राप्त होती है, किन्तु व्युत्पत्ति व्युत्पन्न होने पर उसे ही ज्ञानी कहा है। सूत्र—

प्रेमसंचारमात्रें विकार, विकल्प, स्वभाव इये तीनि उच्छेदौनि जाति।१५।

शब्दार्थ—प्रेम—प्रेम शक्ति का, संचारमात्रें—संचार होते ही, विकार—इन्द्रिय धर्म, विकल्प—मनोधर्म, स्वभाव—देहधर्म, इये—ये, तीनि—तीनों, उच्छेदौनि जाति—समूल नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रेम शक्ति का संचार होते ही प्रेमी के विकार, विकल्प तथा स्वभाव ये तीनों ही नष्ट हो जाते हैं। विकार से राग-द्वेष आदि मनोद्वंद्वों की उत्पत्ति होती है। प्रेम मिलते ही

विकार के नष्ट हो जाने से इनका भी नाश हो जाता है। विकल्प के नाश से अन्यथा ज्ञान नष्ट हो जाता है। स्वभावों के संयम से क्षुधा-पिपासा आदि देहद्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं। मात्र शब्द का प्रयोग समय की स्वल्पता बतलाने के लिये किया है। प्रेम संचार के साथ ही साथ विकार विकल्प का नाश होता रहता है। प्रेम से स्वभावों का, ज्ञान से विकल्प का तथा वैराग्य से विकार का नाश होता है। प्रेमी के स्वभाव तो दीखते हैं, किन्तु उनके कार्य नहीं रहते, अतः उनका नाश होता है, ऐसा कहा है। सूत्र—

भक्ताचे सकळही सन्निधानीं चरितार्थ होए ।१६।

शब्दार्थ—भक्ताचे–भक्त का, सकलही–सब आचार, सन्निधानीं–ईश्वर अवतार के समीप रहने से, चरितार्थ–परिपूर्ण, होए–हो जाता है।

भावार्थ—प्रेमी भक्त के चारों ज्ञानों की चर्या ईश्वर अवतार की श्रीमूर्ति के सन्निधान में अनायास सिद्ध हो जाती है। ईश्वर के ज्ञानी तथा प्रेमी दो भक्त होते हैं। ज्ञानी को विहित ज्ञान का शरीर द्वारा चारों ज्ञानों में आचरण करना पड़ता है, किन्तु प्रेमी को शारीरिक आचरण के बिना ही बैठे-बिठाये श्रीमूर्ति के चिन्तन तथा नाम स्मरण से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। शाब्द, अपरोक्ष, सामान्य तथा विशेषज्ञान इन चारों अवस्थाओं को ज्ञानी तथा प्रेमी दोनों भक्त प्राप्त करते हैं। इन अवस्थाओं में सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् दोनों भक्त ईश्वर के शाश्वत आनंद में लीन हो जाते हैं। सूत्र—

भक्तासि श्रीमूर्तिवरी साध्य-साधन ऐसी प्रतीति प्राप्य-प्रापक बोध ।१७।

शब्दार्थ—भक्तासि–प्रेमी को, श्रीमूर्तिवरी–ईश्वर अवतार के मायापुर में, ऐसी प्रतीति–ऐसा विश्वास होता है कि, साध्य–साधन-प्राप्तव्य तथा प्राप्ति का उपाय, इसी प्रकार प्राप्य-प्रापक–प्राप्त होने वाला तथा प्राप्त करानेवाला, यही ईश्वर अवतार है, ऐसा, बोध–ज्ञान होता है।

भावार्थ—प्रेमी तन्मयता के कारण ईश्वर अवतार को ही अपना साध्य-साधन तथा प्राप्य-प्रापक मानता है। प्रेम शक्ति का संचार होते ही प्रेमी ईश्वरस्वरूप को देख लेता है। वह ईश्वर के साकार तथा निराकार स्वरूप में अन्तर नहीं देखता। अत: उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि इसी अवतार के सेवा, दास्य से "मैं अविद्या आदि बंधनों से छूटकर इसी के स्वरूप में मिलकर शाश्वत आनंद का उपभोग लूंगा।"

ईश्वर अवतार का मायापुर सौन्दर्य, लावण्य आदि से अतीव आकर्षक तथा शोभायमान होता है, अत: उसे श्रीमूर्ति कहा है। श्री अर्थात् माया की। मूर्ति अर्थात् मर्यादित आकृति। साध्य शब्द का प्रयोग प्रथम इसलिये किया है कि दर्शन के साथ ही प्रेमी का विश्वास हो जाता है कि "मैंने इसी में मिलना है।" साध्य अर्थात् स्वरूप प्राप्ति। साधन अर्थात् साध्य को देने वाला। मेरी भक्ति से प्रसन्न होकर इसी श्रीमूर्ति ने मुझे साध्य सुख देना है, साध्य तथा साधन दोनों भी श्रीमूर्ति ही है, ऐसी प्रेमी को प्रतीति होती है, वह उनमें विभिन्नता नहीं मानता। प्राप्य अर्थात् जो प्राप्त किया जाना हो। प्रापक अर्थात् प्राप्त करवाने वाला। साध्य तथा प्राप्य, साधन तथा प्रापक, प्रतीति तथा बोध इन शब्दों की पुनरुक्ति का कारण यह है कि देवता प्रकरण

में देवताओं के विषय में लिखा है कि साधक पिंडस्था (देवतांश) को साधन मानकर उपासना करता है, किन्तु उसे साध्य ब्रह्मांड-स्था देती है। पिंडस्था साधन है, किन्तु प्रापक तथा साध्य नहीं। इस सूत्र में शब्दों की द्विरुक्ति से यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर अवतार साध्य-साधन, प्राप्य तथा प्रापक सब कुछ आप ही है। देवता फलों में प्राप्ति होने पर भी सुखफल नहीं मिलता। क्या ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति भी ऐसी ही है? इसका उत्तर देने के लिये साध्य अर्थात् ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति तथा प्राप्य शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया है कि साध्य प्राप्त होते ही जीव आनंदानुभव करने लगते हैं। प्रतीति अर्थात् विश्वास, बोध अर्थात् ज्ञान। शास्त्र द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाने पर उसे ही बोध कहा गया है। सूत्र—

साध्य साधनाकारें आकारलें करचरणवंतब्रह्महें, ऐसी भक्तासि प्रतीति ।१८।

शब्दार्थ—साध्य—साध्यस्वरूप ही, साधनाकारें आकारलें—साधन की आकृति में अवतीर्ण हुआ है। हें—यह, ब्रह्म—ब्रह्मस्व-रूप ही, करचरणवंत—हाथ, पांव वाला बन गया है। ऐसी—इस प्रकार का, भक्तासि—भक्त का, प्रतीति—विश्वास होता है।

भावार्थ—भक्त श्रीमूर्ति को देखकर दृढ़ विश्वास से यह मानता है कि "मेरा जो साध्य था, वही साधन रूप में मेरे लिये अवतीर्ण हुआ है। वही हस्त, पादादि अवयवों से युक्त ब्रह्म है।" सूत्र—

भक्त वियोगीं नुरे ।१९।

शब्दार्थ---भक्त--प्रेमी, वियोगीं--ईश्वर अवतार के विरह में, नुरे--जीवित रह नहीं सकता।

भावार्थ---जैसे जल के बिना मछली रह नहीं सकती, वैसे प्रेमी ईश्वर अवतार के वियोग में जीवित रह नहीं सकता। उसका मायापुर धारी ईश्वर के साथ इतना प्रेम बढ़ जाता है कि यदि कोई इसे मायापुर के अनहित का झूठा समाचार भी सुना दे, तो यह प्राण दे देता है। जैसे श्रीनागाम्बिका तथा एकांक के भक्त महादेवभट्ट ने प्राण छोड़े थे। सूत्र---

भक्तासि नित्य संबंध ।२०

शब्दार्थ---भक्तासि--भक्त को, नित्य--सतत, संबंध--सन्निधान।

भावार्थ---भक्त सतत ईश्वर अवतार के सन्निधान में रहता है। अपनी इच्छा अथवा किसी कार्य विशेष के होने पर भी वह अवतार से दूर नहीं जाता। बाल्यकाल में बारह वर्ष तक का व्यवधान ईश्वर अवतार की ओर से होता है, क्योंकि उस अज्ञान दशा में वह कुछ जानता ही नहीं। सूत्र---

शब्दज्ञान का संचार---

एकां जीवां प्रति परागिराकरौनि परमेश्वर आपुले अस्तित्व साधीति ।२१।

शब्दार्थ---एकां--किसी एक, जीवां प्रति--जीव के प्रति, परागिराकरौनि--परामिश्रित वैखरी वाणी से, परमेश्वर--ईश्वर अवतार, आपुले--अपना, अस्तित्व--विद्यमानता, साधीति--सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—जैसे धन कहां पर गड़ा है. इस बात का अंजन आदि लगाकर निश्चय कर लिया जाता है, वैसे ईश्वर अवतार किसी के प्रति अपनी शक्तिरूप पवित्र परा वाचा मिश्रित शब्दों के द्वारा शब्दज्ञान देकर सांगोपांग अपना अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उस ज्ञान के कारण साधक का दृढ़ निश्चय हो जाता है कि निर्गुण निराकार ईश्वर स्वरूप ही श्रीमूर्ति को धारण करके भक्तों के उद्धार के लिये प्रकट हुआ है। सूत्र—

मग एक अनुसरति एक ननुसरति ।२२।

शब्दार्थ—मग—शब्दज्ञान प्राप्त हो जाने पर, एक—कई पुरुष पूर्वसंचित पुण्य राशि के प्रभाव से, अनुसरति—ईश्वरीय आज्ञा का परिपालन करते हैं। और एक—कई पुरुष, ननुसरति—अनुसरण नहीं करते।

भावार्थ—ईश्वर जीवों के कल्याण के लिये साकार होकर अपना विशुद्ध ज्ञान तथा प्रेम देते हैं। उनको मुक्त करने के लिये वह प्रयत्न करते हैं। किन्तु 'मनुष्याणां सहस्रेषु' इस श्रीकृष्ण-उक्ति के अनुसार क्वचित् ही कोई जीव ईश्वर का अनुसरण करता है। अधोमति के कारण ये मुक्ति की ओर जाने के लिये प्रवृत्त ही नहीं होते। सूत्र—

ननुसरति ते प्रमादिये बोलिजेति, तेयां सृष्टि शून्य होए ।२३।

शब्दार्थ—ते—उन, ननुसरति—अनुसरण न करने वालों को, प्रमादिये—प्रमादी, बोलिजेति—कहा है। तेयां—उनकी, सृष्टि—सृष्टि (महासंहार तक) शून्य होए—व्यर्थ जाती है।

भावार्थ—'प्रमादोऽनवधानता' अर्थात् असावधानता को प्रमाद कहते हैं। प्रमाद करने वाले को प्रमादी कहा है। जो जीव ज्ञान प्राप्त होने पर भी उसके अनुसार आचरण नहीं करते, उन्हें प्रमाद दोष लगता है, जिससे इस सृष्टि में मुक्ति प्राप्त करने का उनका अधिकार नहीं रहता। सूत्र—

अनुसरलेयांचे आगन्तुक कुंठे, अनारब्ध सुके, प्रारब्धां भोगे क्षयो।२४।

शब्दार्थ—अनुसरलेयांचे–अनुसरण करने वालों के, आगन्तुक कुंठे–आगन्तुक कर्म बन्द हो जाते हैं, अनारब्ध सुके–अनारब्ध कर्म शुष्क हो जाते हैं, प्रारब्धां भोगे क्षयो—प्रारब्ध कर्म भोगने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—ईश्वरीय ज्ञान का अनुसरण करने वालों की कर्मों की त्रिविधता बन्द हो जाती है। आगन्तुक अर्थात् कर्मों की निष्पत्ति का मार्ग। जैसे तालाब का पानी समाप्त करने के लिये उसके झरनों को पहिले ही बन्द कर देना पड़ता है, वैसे आगन्तुक रूप निष्पत्ति के झरने को सबसे पूर्व बन्द कर दिया जाता है। अनारब्ध अर्थात् अपरिपक्व। बीज के बो देने पर पानी के अभाव में जैसे वह उत्पन्न नहीं हो सकता अथवा उत्पन्न होकर भी छोटे-छोटे पौधों के रूप में पानी के न मिलने से जल जाता है, वैसे बीज अथवा पौधों के समान अनारब्ध कर्म कोमल दशा में अपने आप सूख जाते हैं। प्रारब्ध अर्थात् निष्पन्न। प्रारब्ध (निष्पन्न) कर्मों का भोगने से नाश होता है।

ईश्वर की जीवों पर महती कृपा है। यदि आगन्तुक कर्मों

को वन्द न किया होता, तो ईश्वर के संन्निधान में रहकर अनुसरण, सेवा, दास्य आदि का यथावत् पालन न करने से जीवों की कर्म निष्पत्ति होती रहती, जिससे उनकी हानि होती, अतः दयालु ईश्वर ने कर्म निष्पत्ति का अधिकार ही समाप्त कर दिया। सूत्र—

अनुसरलेयासि कर्मसवा भोगनाहीं, दैवसवा भोग।२५।

शब्दार्थ—अनुसरल्येयासि—ईश्वरीय आज्ञानुसार विहित आचरण करने वाले ज्ञानियों को, कर्मसवा—देवताओं द्वारा, भोग नाहीं—कर्म भुगवाये नहीं जाते, दैवसवा—सहायता करने वाली माया की वोलगनी द्वारा, भोग—कर्म भुगवाये जाते हैं।

भावार्थ—जो ज्ञानी ईश्वरीय ज्ञानानुसार आचरण करते हैं उन्हें देवताओं द्वारा कर्म भोगने नहीं पड़ते।उन्हें उनकी सहायक माया की वोलगनी कर्म भुगवाती है। सृष्टि व्यवस्था में जीवों को देवताएं अपना-अपना कर्मभोग भुगवाती हैं, किन्तु अनुसरण करने वालों को यह नियम लागू नहीं होता। ईश्वर कृपा से उनकी कर्म निष्पत्ति तो वन्द होती है। संचित कर्म भी आचरण के कष्ट सहने से तथा ईश्वर के दास्य से कम होते रहते हैं। अनिवार्य कर्मभोग भी सूली का कांटा बनने के समान कम हो जाता है।

अनुसरलेयासि देवत्व तिर्यञ्चत्व होणें नाहीं।२६।

शब्दार्थ—अनुसरलेयासि—अनुसरण करने वालों को,देवत्व—देवताओं के सुखफलों में, तथा तिर्यञ्चत्व—पशु आदि योनियों में, होणें नाहीं—जाना नहीं पड़ता।

भावार्थ—अनुसरण करने वाले ज्ञानी पुरुषों को देवता-फलों में अथवा पशु-आदि योनियों में जाना नहीं पड़ता। अनुसरण करने वाले पुरुषों को संचित कर्म भी जैसे के वैसे भोगने नहीं पड़ते, क्योंकि अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानी संचित कर्मों का **बहुरूपता** द्वारा अर्थात् सुवर्णकार, बुनकर, नापित, कृषक आदि के क्षण-क्षण में रूप बना कर तथा तत् सदृश कर्मों का अनुकरण करके नाश कर डालता है, जैसे ज्ञानी बहुरूपता करने के लिये मनुष्य शरीर रच लेता है, वैसे देवता-फलों का तथा पशु आदि योनियों का निर्माण नहीं करता। उसके लिये यह ईश्वरीय वरदान है कि देवत्व तथा तिर्यंचत्वों के कर्मफल उसे रचने नहीं पड़ते। केवल कामना कर लेने से उसके वे कर्मफल नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार **बहुकामता** द्वारा अर्थात् कई प्रकार की देवत्व और तिर्यंचत्व की कामना करके वह सब कर्म धो डालता है। सूत्र—

ज्ञानियासि श्रीमूर्तिवरी साधनप्रतीति प्रापक बोध।२७।

शब्दार्थ—ज्ञानियासि–शाब्दज्ञानी को, श्रीमूर्तिवरी–ईश्वर अवतार पर, साधन प्रतीति–मेरा यह साधन है, ऐसा विश्वास होता है, तथा प्रापक बोध–यही मुझे प्राप्ति देने वाला है, ऐसा ज्ञान होता है।

भावार्थ–प्रेमी के समान शाब्दज्ञानी भी मायापुर आश्रित ईश्वर को अपना साधन तथा प्रापक मानता है। शब्दज्ञान दृढ़ हो जाने पर ज्ञानी को यह श्रीमूर्ति धारण करने वाला ईश्वर है

ऐसी प्रतीति तथा ज्ञान हो जाता है। इसका चैतन्य माया द्वारा पढ़ाया हुआ अन्यथा ज्ञान रूप विकल्प ईश्वर प्रतीति होने पर नष्ट हो जाता है। यही ईश्वर अवतार मेरा साधन है तथा साध्य देने वाला है, इस दृढ़ निश्चय से ज्ञानी ईश्वर अवतार की सेवा दास्य करके ज्ञान को दृढ़ करता है। सूत्र–

कैवल्यदाता हा मोक्षदाता हा ऐसी ज्ञानियासि प्रतीति ।२८।

शब्दार्थ–कैवल्यदाता–कैवल्य ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति देने वाला, हा–यह है, तथा, मोक्षदाता–मुक्ति देने वाला, हा–यह है, ऐसी–इस प्रकार का, ज्ञानियासि–शाब्द ज्ञानी को, प्रतीति–विश्वास होता है।

भावार्थ----शाब्द ज्ञानी का यह निश्चय होता है कि यही ईश्वर अवतार मुझे कैवल्य पद तथा मुक्ति देने वाला है मोक्ष अर्थात् अविद्या आदि बंधनों से छूटकर ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करना।,प्राप्ति से पूर्व जीव स्वरूप के अविद्या आदि सब दोषों का नाश कर दिया जाता है। मोक्ष, प्रेम तथा ब्रह्मविद्या को भी कैवल्य कहा है। त्र्यंश से परे केवल ईश्वर स्वरूप को कैवल्य कहा है। सूत्र--

अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान का संचार----

अनुसरौनि सन्निधान करी यापरी योग्य होए तेयासि परमेश्वर सत्ता ज्ञान दान करीति ।२९।

शब्दार्थ–अनुसरौनि–अनुसरण करके जो, सन्निधान करी–ईश्वर अवतार के पास रहता है, यापरी–इस प्रकार, योग्य

होए–योग्यता प्राप्त करता है, तेयासि–उसे, परमेश्वर–ईश्वर अवतार, सत्ताज्ञान–अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान, दानकरीति–दान करते हैं।

भावार्थ–शब्द ज्ञान चरितार्थ हो जाने पर ईश्वर अवतार शाब्दज्ञानी को अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान देते हैं। शाब्दज्ञानी को चारों पदार्थों का ज्ञान शब्दों द्वारा होता है। किन्तु जब वह ईश्वर अवतार के पास रहकर आठ बातों का परिपालन करता है, तब उसका शब्द ज्ञान चरितार्थ हो जाता है। उसे ईश्वर अवतार अपरोक्ष ज्ञान देते हैं, जिससे वह चारों पदार्थों के प्रत्यक्ष दर्शन करता है। सन्निधान अर्थात् हृदय से ईश्वर के अधीन होकर अवतार की सेवा तथा बाह्य कार्य करना। वे आठ बातें ये हैं। (१) ज्ञान प्राप्ति, (२) अनुसरण करना, (३) वैराग्य आचरण के लिये किसी की संगति में रहना, (४) शास्त्राध्ययन के लिये किसी के पास रहना, (५) श्रीमूर्ति की सेवा करना, (६) दास्य अर्थात् अवतार की सेवा के लिये बाहर के सभी आवश्यक कार्य करना, (७) मायापुर का भजन-पूजन करना तथा (८) निरूपण अर्थात् उपदेश सुनना। इन आठ बातों को आचरण में लाने से पुरुष अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। सूत्र–

कव्हणी एकी अवसरीं सकळही मळांचें परिसारण करौनि परमेश्वर जीवीं आपुली सत्ताशक्ति संचरीति मग मागौते मळ घालीति ।३०।

शब्दार्थ–कव्हणीं एकीं अवसरीं–पूजावसर के समय, सकल

ही–सब, मलांचे–मलों को, परिसारण करौनि–हटाकर, परमेश्वर–ईश्वर अवतार, जीवीं–जीव स्वरूप में, आपुली–अपने, सत्ताशक्ति–अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान का, संचरीति–संचार करते हैं, मग–ज्ञान संचार के पश्चात्, मागौते–फिर से, मल घालीति–मलों को पूर्ववत् कर देते हैं।

भावार्थ–ईश्वर अवतार प्रसन्न होकर पूजावसर के समय जीवस्वरूप गत अविद्या तथा मलों को अपनी दृष्टि से एक ओर करके जीवस्वरूप में ज्ञानशक्ति का संचार करते हैं। संचार हो जाने पर अविद्या तथा मलों को पूर्ववत् कर देते हैं। जैसे जल पर फैली हुई काई को हाथ से हटा देने पर निर्मल जल निकल आता है, किन्तु कुछ ही काल के पश्चात् उस पर फिर से काई छा जाती है, वैसे अपरोक्ष, सामान्य तथा विशेषज्ञान के संचार के समय ईश्वर अवतार जीवस्वरूप पर छाए हुए अविद्या तथा मलों को अपनी दृष्टि से एक ओर करके शुद्ध जीव स्वरूप में ज्ञान शक्ति का संचार करते हैं और दृष्टि द्वारा ही फिर से उन्हें पूर्ववत् फैला देते हैं। ईश्वर अवतार जीवों के कर्म नाश के लिये तथा योग्यता प्रदान करने के लिये व्यतिक्रम आदि तीन प्रकार से अपनी पूजा करवाते हैं और उस अवसर पर योग्य जीवों को ज्ञानशक्ति का संचार करते हैं। अविद्या और आद्यमल जीव स्वरूप में मिले हुए होने के कारण उन्हें उस अवसर पर जीव स्वरूप से पृथक् करना पड़ता है। सूत्र–

सत्ता बोलिजे सूचा बोलिजे अव्यभिचार्य ज्ञान बोलिजे।३१।

शब्दार्थ—सत्ता बोलिजे—सत्ताज्ञान कहा है, सूचा बोलिजे—सूचा ज्ञान कहा है,तथा, अव्यभिचार्य ज्ञान बोलिजे—अव्यभिचारी ज्ञान कहा है ।

भावार्थ—अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान को ही सत्ताज्ञान, सूचा ज्ञान तथा अव्यभिचारी ज्ञान कहा है । सत्ता अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन शब्द ज्ञान में ज्ञानी के लिये जिन पदार्थों का अस्तित्व था, अपरोक्ष ज्ञान में उसे उनके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं । अतः उसे सत्ता ज्ञान कहा है सूचा अर्थात् भविष्य का ज्ञान । ज्ञानी को अपरोक्ष ज्ञान मिलने पर "मैंने इसी ईश्वर के कैवल्य स्वरूप को प्राप्त करके आनंदानुभव करना है," इस भविष्य ज्ञान का अनुभव होता है । अतः उसे सूचा ज्ञान कहा है । अव्यभिचार्य अर्थात् अपरिवर्तनीय, जैसे सूर्य अस्त हो जाता है तथा दीपक फूंक मारने पर बुझ जाता है, वैसे देवताओं के ज्ञान में परिवर्तन होता है । संहार, महासंहार आदि होने पर देवताओं का ज्ञान समाप्त हो जाता है । विद्या प्राप्त होने पर जारण-मारण में हुई हिंसा के स्वतंत्रनरक भोगने पड़ते हैं। अपरोक्ष ज्ञान परिवर्तनशील नहीं । अतः उसे अव्यभिचार्य कहा है ।

सत्ता ते विदित ।३२।

शब्दार्थ—सत्ता—अपरोक्षज्ञान, ते—उसे कहते हैं, जिसमें विदित—ज्ञात, पदार्थों का प्रत्यक्ष यथातथ्य परिज्ञान हो ।

भावार्थ—अपरोक्ष ज्ञानी चारों पदार्थों को यथातथ्य देखता है । जैसे हम समुद्र को तो देख लेते हैं, परन्तु उसकी विस्तृतता, अगाधता की यथार्थता को जान नहीं सकते; वैसे अपरोक्ष ज्ञान

की प्रत्यक्षता अधूरी नहीं। अपरोक्ष ज्ञानी को इत्थंभूत पदार्थों का दर्शन होता है। सूत्र--

सत्ताज्ञान तेंचि अपरोक्षज्ञान ।३३।

शब्दार्थ--सत्ताज्ञान, तेंचि-उसी को ही, अपरोक्षज्ञान कहते हैं।

भावार्थ--सत्ताज्ञान को ही अपरोक्षज्ञान कहते हैं। जैसे हम किसी वस्तु को देखते हैं, परन्तु पर्वत आदि वस्तु के आड़े आ जाने पर देख नहीं सकते, अथवा कोई वस्तु पास से स्पष्ट तथा दूर से धुंधली दीखती है। वैसे अपरोक्ष ज्ञानी का देखना नहीं। वह दूर से, नजदीक से तथा बीच में व्यवधान आ जाने पर भी एकसा ही देखता है। सूत्र--

सत्ताज्ञानी अशेष कर्म जाणें, कर्मक्षाळणी उपाओ जाणे, एतेंविघ्न जाणे, विघ्नोपशम जाणे ।३४।

शब्दार्थ--सत्ताज्ञानी, अशेष कर्मजाणे-समग्र कर्मलेपों को देखता है, कर्मक्षालणी-कर्मों को धोने का, उपाओ-उपाय, जाणे-जानता है, एतेंविघ्न जाणे-आने वाले विघ्नों को जानता है, विघ्नोपशमजाणे-विघ्नों का उपशम करना जानता है।

भावार्थ--अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानी को जीव-स्वरूप, तदाश्रित अविद्या तथा मल और कर्म दीखते हैं। ज्ञान सामर्थ्य से वह उनके नाश के उपायों को भी जानता है। भविष्य में आने वाले विघ्नों को जानता है तथा उनका नाश करना भी जानता है। सूत्र में कर्मों को जानता है ऐसा न कहकर कर्मों को देखता है, ऐसा कहना चाहिये था, परन्तु चूंकि अपरोक्ष ज्ञानी

निर्लेप कर्मों को देख नहीं सकता, केवल जानता है, इसलिये सूत्र में जानता है, कहा गया है। ध्यान रहे, अपरोक्ष ज्ञानी सलेप कर्मों को देख सकता है। सलेप अर्थात् वे कर्म जिनके चिन्ह अविद्या आश्रित होते हैं। निर्लेप अर्थात् वे कर्म जिनके चिन्ह नहीं होते, केवल अधिकार निष्पन्न होता है। सूत्र--

सन्निधानीं क्षाळी कां असन्निधानीं क्षाळी ।३५।

शब्दार्थ--सन्निधानीं-ईश्वर अवतार के पास, क्षाली-क्षालन करता है, कां-अथवा, असन्निधानीं-असन्निधान में भी, क्षाली-कर्म क्षालन करता है।

भावार्थ--अपरोक्ष ज्ञानी अपने संचित कर्मों का नाश ईश्वर अवतार के समीप रहकर करता है तथा अवतार से दूर रहकर भी करता है। जिस कर्म में ईश्वरीय इच्छा, स्वीकृति, सेवा, दास्य आदि कार्य हों, उसे सन्निधान कहते हैं। जब ईश्वर अवतार सोये हों, उदास हों अथवा जीवों के उद्धार के लिये कहीं अन्यत्र गये हों, उसे असन्निधान कहा है। ऋण हो जाने पर जैसे सज्जन प्रकृति का पुरुष ऋण उतारे बिना स्वस्थ नहीं होता, वैसे कर्म नाश के लिये ज्ञानी बेचैन रहता है। शीघ्रता के कारण वह सन्निधान-असन्निधान में भी कर्म का नाश करता है। सूत्र-

सन्निधानीं तोकडेंनि बहुत क्षाळी, असन्निधानीं जें जेतुलेंनि क्षाळावें तें तेतुलेंनि क्षाळी ।३६।

शब्दार्थ--सन्निधानीं-ईश्वर अवतार के पास, तोकडेनि-थोड़े से उपाय से, बहुत क्षाली-बहुत से कर्मों का नाश करता है, असन्निधानीं-असन्निधान में, जें-जो कर्म, जेतुलेनि-जिस

प्रकार के उपाय से, क्षालावें–नाश के योग्य हों, तें–उन्हें, तेतुलेनि–उतने ही उपाय से, क्षाली–नाश करता है।

भावार्थ—अपरोक्ष ज्ञानी ईश्वर अवतार के पास रहकर थोड़े से समय में किंचित् उपाय करके कर्मनाश करता है, किन्तु असन्निधान में जो कर्म जितने समय में जिन उपायों से क्षालन करने के योग्य हों, उन्हें उतने ही उपायों से उतना ही समय लगाकर नाश करता है। अपरोक्ष ज्ञानी शरीरों के रचने की शक्ति रखता है। जिस कर्मभोग के योग्य जो शरीर हो, उसे रचकर तथा उसमें प्रविष्ट होकर उसी के अनुसार कर्म करने का अनुकरण करता है। कुछ ही क्षणों में उसका वह कर्मफल समाप्त हो जाता है। तद्वत् दूसरे कर्मफल (शरीर) को रच लेता है और उसके अनुसार अनुकरण करके उसका नाश कर लेता है। इस प्रकार सुवर्णकार, लोहार आदि नाना प्रकार के मनुष्य शरीर यथाक्रम एक-एक रचकर तथा उनमें प्रविष्ट होकर कर्मफल के अनुसार अनुकरण करके समग्र मनुष्यत्व के कर्मफलों का नाश करता है। देवता और पशु आदि के कर्मफल इसे रचने नहीं पड़ते। वे इसकी तद्वत् कामना मात्र करने से नष्ट हो जाते हैं। सूत्र—

सत्ताज्ञानीं विकारसृष्टि कर्मसृष्टि अधीना होति देवि विघ्न ।३७।

शब्दार्थ—सत्ताज्ञानीं–अपरोक्ष ज्ञान में, विकारसृष्टि–कर्मभूमि से स्वर्ग तक की स्त्री देवताएं, कर्मसृष्टि–कर्मभूमि से स्वर्ग तक की पुरुष देवताएं, अधीना–वशवर्ती, होति–हो जाती हैं,

दैव–ब्रह्मादि से लेकर चैतन्य देवता तक की देवताएं, विघ्न–विघ्न करती हैं।

भावार्थ––अपरोक्षज्ञान प्राप्त होने पर शब्दज्ञान में विघ्न करने वाली विकारसृष्टि नामक स्त्री देवताएं तथा अनुकूल बर्ताव करनेवाली कर्मसृष्टि नाम की सहायक देवताएं अपरोक्ष ज्ञानी को अपने से श्रेष्ठ मानकर उसकी आज्ञाकारिणी होती हैं और दैव नामक देवताएं उसे अपने समान मानकर पदार्थ द्वारा विघ्न करके भक्ति से गिराना चाहती हैं। सूत्र––

ब्रह्मादिक आपुलेया पदा नेयावेया एति, परि तो तयांची वासही न पाहे ।३८।

शब्दार्थ––ब्रह्मादिक–ब्रह्मा + आदिक–ब्रह्मा आदि देवताएं, आपुलेया–अपने, पदा–स्थान पर, नेयावेया–ले जाने के लिये, एति–आती हैं, परि–परन्तु, तो–वह अपरोक्ष ज्ञानी, तयांची–उन देवताओं की, वासही–इच्छा तक, न पाहे–नहीं करता।

भावार्थ––अपरोक्ष ज्ञानी की श्रेष्ठता को जानकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा क्षीराब्धि की देवताएं उसे अपना सुख देने के लिये अपने स्थान पर ले जाने को विनम्र होकर आती हैं, किन्तु वह उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता। सूत्र––

अष्ट भैरव आळवीति डंडळवीति परि तो जैसा कांहीं तैसाचि ।३९।

शब्दार्थ–अष्ट भैरव–आठ भैरव देवताएं, आलवीति–गर्जना कर पुकारती हैं, डंडलवीति–बलात्कार से खींचकर ले जाना चाहती हैं, परि–परन्तु, तो–वह अपरोक्ष ज्ञानी, जैसा कांहीं

तैसाचि–जैसा का वैसा बना रहता है।

भावार्थ—अत्यन्त शक्तिशाली भैरव अपरोक्षज्ञानी को जोर-जोर से गर्जना कर भयभीत करना चाहते हैं और बल प्रयोग से उसे खींचकर अपने सुख के लिये ले जाना चाहते हैं, परन्तु वह गरिमा सिद्धि से पर्वत के समान अचल बनकर बैठा रहता है। अन्त में तंग आकर 'अच्छा फिर देखेंगे' यह कहते हुए चले जाते हैं, अपरोक्ष ज्ञानी का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। सूत्र—

ब्रह्मतुल्य आनन्द विघ्नत्वें प्रकटति ।४०।

शब्दार्थ—ब्रह्मतुल्य आनन्द–विश्व और चैतन्य देवता का सुख, विघ्नत्वें–विघ्नरूप से, प्रकटति–प्रगट होता है।

भावार्थ—जब भैरव देवता भी अपरोक्षज्ञानी को अपना सुख न दे सकीं, तो ज्ञानी अपनी शक्ति की परीक्षा करने ईश्वर की श्रीमूर्ति से दूर जाकर कर्म-क्षालन करता है, परन्तु विश्व और चैतन्य देवता अपने व्यापक स्वरूपाश्रित उस ज्ञानी में अपने आनंद का संचार कर देती हैं। इसी देवता आनंद को विघ्न कहा है।

इस विघ्न से घबराकर ज्ञानी अवतार के पास आकर सेवा, दास्य करता है। जिससे विघ्नकारक वह देवतानंद समाप्त हो जाता है। सूत्र—

विद्या अविद्या पुरुष यां तीहीतें विद्या प्रकाशी मग तो विद्ये अधीन होए ।४१।

भावार्थ—विद्या–ईश्वर, अविद्या–देवता, पुरुष–अपरोक्ष-ज्ञानी, यां तीहीतें–इन तीनों का, विद्या–ब्रह्मविद्या, प्रकाशी–ज्ञान कराती है, मग–पदार्थों का ज्ञान होने के पश्चात्, तो–वह अप-

रोक्षज्ञानी, विद्ये–ईश्वर अवतार के, अधीन होए–वश होता है।

भावार्थ––पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होते ही अपरोक्षज्ञानी करतलामलकवत् ईश्वर स्वरूप, देवता स्वरूप तथा जीवस्वरूप को जान लेता है। उनकी यथास्थिति से परिचित होने से वह सर्वसंग परित्यागी होकर ईश्वर अवतार की शरण जाता है और उनकी आज्ञानुसार अपना जीवन बिताता है।

शब्दज्ञानी को पदार्थों का शाब्दिक ज्ञान होता है। वही ज्ञान अपरोक्षज्ञानी को प्रत्यक्ष होता है, जिससे उसकी शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। जीवस्वरूप के दर्शन के साथ ही वह अविद्या, मल तथा कर्मों को भी देख लेता है, अतः उनसे अपना पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करता है। वह देवताओं को अपना वैरी तथा वंचक समझकर उपेक्षा से देखता है और ईश्वर को अपना हितचिन्तक मुक्तिदाता मानकर उसकी सप्रेम सेवा करता है। वह सदैव ईश्वर तथा उसके ज्ञान के अधीन रहता है। सूत्र––

सामान्य ज्ञान का संचार––

यापरी योग्य होए तेयासि परमेश्वर सामान्यज्ञानदान करीति ।४२।

शब्दार्थ––यापरी–इस प्रकार अपरोक्षज्ञान का परिपालन करके, योग्य होए–अपरोक्ष ज्ञानी योग्यता प्राप्त करता है, तेयासि–उस अपरोक्ष ज्ञानी को, परमेश्वर–साध्य-साधन दाता ईश्वर अवतार, सामान्यज्ञान–अपरोक्ष से श्रेष्ठ ज्ञान, दान करीति–देते हैं।

भावार्थ––इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के परिपालन से सुयोग्य

बनकर अपरोक्षज्ञानी ईश्वरीय कृपा से सामान्यज्ञान को प्राप्त करता है। सामान्य शब्द का अर्थ साधारण होता है, किन्तु यहां वह अर्थ नहीं है। यहां सामान्य शब्दज्ञान की तीसरी श्रेष्ठ अवस्था का बोधक है। अपरोक्ष से श्रेष्ठ तथा विशेष से कनिष्ठ होने के कारण इसको सामान्य कहा है। सामान्यज्ञानी की अपरोक्ष ज्ञानी से अधिक शक्ति होती है। अपरोक्षज्ञानी जिन मलों का नाश नहीं कर सकता, उनका नाश सामान्यज्ञानी करता है। सूत्र—

सामान्यज्ञानीं विकारसृष्टि कर्मसृष्टि वेगळा होए दैवसृष्टि अधीना होति।४३।

शब्दार्थ—सामान्यज्ञानीं—सामान्य ज्ञान में, विकारसृष्टि—कर्मभूमि से स्वर्ग तक की स्त्री देवताओं से, कर्मसृष्टि—पुरुष देवताओं से, वेगला होए—पृथक् हो जाता है, दैवसृष्टि—ब्रह्मादि से चैतन्य तक की देवताएं, अधीना होति—अधीन होती हैं।

भावार्थ—सामर्थ्यसम्पन्न सामान्यज्ञान प्राप्त होने पर शब्दज्ञान में विघ्न डालने वाली प्रतिकूल तथा अनुकूल देवताएं अपरोक्षज्ञानी की आज्ञा में रहती हैं और सामान्यज्ञानी का उनसे कोई नाता नहीं रहता। इसके शरीर में उनकी पिंडस्थाएं नहीं होतीं। अपरोक्षज्ञानी के साथ उनका जो मानसिक द्वेष था, वह भी सामान्यज्ञानी के साथ नहीं रहता। वे इसका कुछ भी बिगाड़ न सकने के कारण इसके अधीन हो जाती हैं। सूत्र—

सत्तासामान्यज्ञान मिळौनि अशेष कर्म क्षाळन करी अशेष मळ क्षाळन करी।४४।

शदार्थ—सत्तासामान्यज्ञान मिलौनि—अपरोक्ष तथा सामा-

न्यज्ञान दोनों में, ज्ञानी, अशेष कर्म क्षालन करी—समग्र कर्म क्षालन करता है, अशेषमल क्षालन करी—यक्षिणी से चैतन्य तक के सभी मलों का नाश करता है।

भावार्थ——ज्ञानी अपरोक्ष तथा सामान्यज्ञान में कर्मों का क्षालन करता है। अपरोक्ष ज्ञान में कर्मों का क्षालन करता है तथा सामान्य ज्ञान में मलों का नाश करता है। यत् क्रियते तत् कर्म, के अनुसार मलों को भी कर्म कहा है, क्योंकि मलों का उसने सृजन किया है। नाश और क्षालन में यह अन्तर है कि नाश में कुछ भी शेष नहीं रहता, किन्तु क्षालन में मलीन को स्वच्छ किया जाता है। कर्म सेवा, दास्य तथा भोग से नष्ट होते हैं। उनका क्षालन ज्ञान सामर्थ्य से होता है। क्षालनोपरान्त जो हरे-पीले चिन्ह बचते हैं, उनका सामान्य में नाश होता है। मलों का नीचादिक्रम से नाश होता है। मल रचना के समय जो कहा है, उससे उलट कहकर नाश किया जाता है। मलों में अपरोक्ष ज्ञानी की ममता नहीं होती, परन्तु उनके नाश का उपाय नहीं जानता, अतः सामान्य ज्ञान में मलों का क्षालन करता है।

तेणें लाविलें तें तो फेडी तेणें नाहीं लाविलें तें तयाचेनि न फिटे।४५।

शब्दार्थ——तेणें उस जीव ने, लाविलें—जो मल लगायें हैं, तें—उनका, तो—वह, फेडी—नाश करता है, तेणें—उसने, नाहीं लाविलें—जो नहीं लगाये, तें—उनका, तयाचेनि—उससे, न फिटे—नाश नहीं हो सकता।

भावार्थ——जिन मलों की जीव ने स्वयं रचना की है, उनका

वह नाश कर सकता है। आद्यमल की रचना उसने नहीं की, अतः उसका नाश भी वह नहीं कर सकता। मलों के करने में तथा नाश में ईश्वरीय प्रवृत्ति कारण होती है। जीव जब चाहे कर्मों का नाश कर सकता है किन्तु ईश्वरीय इच्छा के बिना मलों का नाश नहीं कर सकता। सूत्र--

यत् क्रियते तत्कर्म म्हणौनि कर्म कर्म शब्दें कर्म बोलिजे कर्म शब्दें मळही बोलिजेति ।४६।

शब्दार्थ--यत् क्रियते-जो किया जाता है, तत् कर्म-उसे कर्म कहते हैं, म्हणौनि कर्म-इसलिये उसे कर्म कहा है, कर्म शब्दें-कर्म शब्द से, कर्म बोलिजे-कर्मों का ग्रहण होता है, कर्म शब्दें-कर्म शब्द से, मलही बोलिजेति-मल को भी कहा है।

भावार्थ--जो किया जाये, उसे कर्म कहते हैं। मल भी किये जाते हैं, अतः उन्हें भी कर्म कहा है। कर्म शरीर, वाणी तथा मन से किये जाते हैं। उनसे निष्पन्न सुख-दुःखों का भोग भोगना पड़ता है, किन्तु मल केवल मानसिक होते हैं तथा उनसे सुख-दुःख का भोग निष्पन्न नहीं होता। दोनों भी बंधन तथा मलीनता लाने वाले हैं। सूत्र--

यापरी योग्य होए तेयासि परमेश्वर विशेषज्ञान दान करीति ।४७।

शब्दार्थ--यापरी-इस प्रकार, योग्य होए-सामान्यज्ञान के आचरण से योग्य होता है, तेयासि-उस सामान्यज्ञानी को, परमेश्वर--ईश्वर अवतार, विशेषज्ञान दान करीति--विशेषज्ञान देते हैं।

भावार्थ—सामान्यज्ञानी को मल आदि क्षालन के पश्चात् विशेषज्ञान का योग्य अधिकारी जानकर साध्य-साधनदाता, उद्धर्त्ता तथा रक्षणकर्ता ईश्वर अवतार उसे विशेषज्ञान देते हैं। इससे श्रेष्ठ ज्ञान और न होने के कारण इसे विशेषज्ञान कहा है। ईश्वर अवतार जीवस्वरूप की योग्यता को देखकर यथानुक्रम शाब्द, अपरोक्ष, सामान्य तथा विशेषज्ञान देते हैं। तो क्या ये चारों पृथक्-पृथक् हैं? नहीं, ज्ञान तो एक ही है, किन्तु ये उसकी चार अवस्थाएं बतलाई हैं। सूत्र—

विशेषज्ञानीं दैवसृष्टि वेगळा होए सकळांही शक्ति अधीना होति अपरोक्षा होति ।४८।

शब्दार्थ—विशेषज्ञानीं—विशेषज्ञान में, दैवसृष्टि वेगला होए—ब्रह्मा आदि से विश्व तक देवताओं की पिंडस्थाओं से पृथक् हो जाता है, सकलांही—समग्र, शक्ति—देवताएं, अधीना होति—अधीन हो जाती हैं, अपरोक्षा होति—दीखती हैं।

भावार्थ—विशेष ज्ञान प्राप्त होने पर उसके शरीर से ब्रह्मा आदि से लेकर विश्व तक सब देवताओं की पिंडस्थाएं चली जाती हैं क्योंकि उस शरीर में सप्तधातु तथा मेद-मांस नहीं होते। कर्मभूमि से स्वर्ग तक की पिंडस्थाएं सामान्यज्ञान में चली जाती हैं। दैवसृष्टि की देवताओं का सामान्यज्ञानी पर रोष है। किन्तु विशेष ज्ञानी उनके उस रोष से भी अलग हो जाता है। वे सब उसे श्रेष्ठ मानकर उसकी आज्ञा कारिणी बन जाती हैं। सब देवता मेरे अधीन हैं, इसका विशेषज्ञानी को परिज्ञान होता है। ईश्वर की जड़ शक्तियां भी उसके अधीन होती हैं। सूत्र—

माया कोपौनि उदासीन होए ।४९।

शब्दार्थ——माया–चैतन्य देवता, कोपौनि–क्रोध के मारे, उदासीन–उदास, होए–होती है ।

भावार्थ——माया क्रोध के मारे विशेषज्ञानी से उदास होती है । जब अपना आनंदादि सर्वस्व देने पर भी ज्ञानी उसकी बात नहीं मानता तब उससे रूठकर माया उदास हो जाती है । जिसमें कपट हो उसे माया कहते हैं । यह भी कपट रखती है । अपरोक्ष ज्ञानी पर ईश्वरीय कृपा होती है, किन्तु यह उसे अपने आनंद के संचार द्वारा विघ्न करती है । योग भ्रष्ट का ईश्वर तिरस्कार करते हैं, परन्तु यह उसे अपना सुखफल देती है । सूत्र——

मायाकृपाव्यतिरिक्त परमेश्वर तेयासि सकळांही शक्ति दाना करीति ।५०।

शब्दार्थ————मायाकृपाव्यतिरिक्त–जड़शक्तियों में कृपा, चेतनों में से माया इन दोनों श्रेष्ठ शक्तियों को छोड़कर, परमेश्वर–ईश्वर अवतार, तेयासि–उस विशेषज्ञानी को, सकलांही शक्ति–सम्पूर्ण देवताएं, दाना करीति–देते हैं ।

भावार्थ——कृपा तथा माया के अतिरिक्त ईश्वर अवतार अपनी सब जड़-चेतन शक्तियां विशेषज्ञानी के अधीन कर देते हैं।

यदि उसको ये दोनों शक्तियां भी दी होतीं तो वह भी दूसरा ईश्वर बनकर जीवों का उद्धार करता तथा दूसरों को ज्ञान प्रेम देता ।

मग तो सकळांसिही प्रमाणद्रव्य होए ।५१।

शब्दार्थ——मग–शक्तियां मिल जाने के पश्चात्, तो–वह

विशेषज्ञानी, सकलांसिही–सब शक्तियों के लिये, प्रमाण द्रव्य होए–श्रेष्ठ बन जाता है।

भावार्थ––विशेषज्ञानी सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण सबके लिये प्रमाण (श्रेष्ठ) होता है। उसे सभी शक्तियां ईश्वर के समान मानती है किन्तु ईश्वर नहीं। सूत्र––

आद्यमळयुक्त चरमदेहस्थित कृपास्पदीभूत होउनि असे ।५२।

शब्दार्थ––आद्यमलयुक्त–आद्यमल सहित, चरमदेहस्थित–अन्तिम शरीर के आश्रित, कृपास्पदीभूत होउनि–कृपाकांक्षी होकर, असे–रहता है।

भावार्थ––आद्यमलयुक्त सुवर्णकाय बनकर विशेषज्ञानी ईश्वर अवतार के पास रहता है। ईश्वर के आनंदमय स्वरूप को देखकर विशेषज्ञानी उसमें मिलने के लिये आर्त तथा अधीर हो उठता है, किन्तु ईश्वर अवतार उसकी अविद्या तथा आद्यमल आदि का नाश नहीं करते। क्योंकि निषिद्ध आचरण तथा विधि भंग से ईश्वर उदास होकर उससे रुष्ट होते हैं। तथा मायापुरहनन, मर्मस्पर्श एवं अन्तःकरण दुःखाना आदि से निष्पन्न अयोग्यता जीवस्वरूप में शेष होती है। उसके नाश के लिये कृपास्पद के कष्ट सहने पड़ते हैं। सूत्र––

अविद्या छेद––

मग परमेश्वर तेयासि कृपा करीति ।५३।

शब्दार्थ––मग–अप्रसन्नता दूर होने पर, परमेश्वर–ईश्वर अवतार, तेयासि––उस विशेषज्ञानी पर, कृपाकरीति––कृपा

करते हैं।

भावार्थ--ईश्वर उसकी दीन वृत्ति के आचरण से प्रसन्न हो जाते हैं। वे इतने कृपालु हो जाते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र उसे प्राप्ति देने के लिये उत्कंठित हो उठते हैं। सूत्र--

मग परमेश्वर आपुलिया कृपाशक्ति करुनि तेयाचि अनादि अविद्या–छेदकरीति मूळाविद्या-छेदकरीति, अज्ञान-छेद-करीति ।५४।

शब्दार्थ---मग–प्रसन्न होकर, परमेश्वर–ईश्वर अवतार, आपुलिया–अपनी, कृपाशक्ति करुनि–कृपा शक्ति के द्वारा, तेयाचि–उस विशेषज्ञानी की, अनादि अविद्या–छेदकरीति–महार्णव अविद्या छेदते हैं, मूलाविद्या–छेद करीति–मूल + अविद्या छेद करते हैं, अज्ञान-छेद करीति–अज्ञान छेद करते हैं।

भावार्थ---उदासी दूर हो जाने पर परमेश्वर विशेषज्ञानी की अविद्या छेद करते हैं। यह अनादिकाल से पानी में स्याही के समान जीवस्वरूप में मिली हुई थी। इसी के नाशार्थ सृष्टि बनी। सभी पुण्य-पाप की मूल यही है। इसीसे जीव को जीवत्व प्राप्त हुआ है। सुख-दुःख का अनुभव भी इसी के कारण होता है। अज्ञान का कार्य अन्यथाज्ञान है। कार्यभेद से ये तीनों नाम अविद्या के ही हैं।

भक्त के साधन, साध्य तथा अनुभव का विशेष-ज्ञानी को ज्ञान नहीं। अनादि, मूल, अज्ञान, अन्यथाज्ञान तथा जीवत्व इन सबका अविद्या के साथ ही नाश होता है। सूत्र—

अज्ञानछेदेंकरुनि अन्यथाज्ञानत्रुटि होए आद्यमळत्रुटि होए जीवत्वत्रुटि होए ।५।

शब्दार्थ––अज्ञानछेदेंकरुनि–अज्ञान के नाश से अन्यथाज्ञान-त्रुटि होए–अन्यथा–ज्ञान का नाश होता है, आद्यमलत्रुटि होए–आद्यमल का नाश होता है, जीवत्वत्रुटि होए–जीवत्व का नाश होता है ।

भावार्थ––विशेषज्ञान में अज्ञान के नाश से ही अन्यथाज्ञान, आद्यमल तथा जीवत्व का नाश हो जाता है । अज्ञान अर्थात् आत्यंतिक अनभिज्ञता । कुछ को कुछ समझना इसे अन्यथाज्ञान कहा है । जैसी रस्सी में सर्पबुद्धि । आद्यमल अर्थात् माया द्वारा प्रकाशित जीवस्वरूप का दोष । जीवत्व अर्थात् जीवन शक्ति । अज्ञान से अन्यथाज्ञान, आद्यमल तथा जीवत्व की उत्पत्ति होती है । अज्ञान के कारण ही जीव अपने को चैतन्यमहं कहता है । जीव होते हुए भी अपने को संलग्न समझना यह उसका अन्यथा ज्ञान है । इसीसे उसे आद्यमल निष्पन्न होता है । आद्यमल के कारण ही जड़वत् मूढ़ जीवों में जीवत्व (चेननता) आता है। कारण रूप अज्ञान का नाश करने से उसके इन तीनों कार्यों का अपने आप नाश होता है । अविद्या से मल निष्पन्न होते हैं, ईश्वर विषयक अज्ञान से चतुर्विध कर्मफल निष्पन्न होते हैं तथा जीव-स्वरूप गत अज्ञान से अन्यथा ज्ञान निष्पन्न होता है । सूत्र––

तळिचील हाणितलेया वरिचील पड़े उतरंडी गड़बड़ी ।५६।

शब्दार्थ––तलिचील–नीचे की वस्तु, हाणितलेया–टूटजाने से, वरिचील–ऊपर की वस्तु, पड़े–अपने आप गिर जाती है,

उतरंडी—एक पर एक रखे हुए मटकों का उड़ीकन निकाल लेने पर, गड़बड़ी—जैसे ऊपर के मटके स्वयंमेव गिर जाते हैं।

भावार्थ—जैसे आधार के अभाव में आधेय रह ही नहीं सकते, वैसे आधार रूप कारण का नाश होने से आधेय रूप कार्यों का अपने आप नाश हो जाता है। नीचे का मटका टूटते ही ऊपर के सब गिरकर टूट जाते हैं। अज्ञान, अन्यथाज्ञान, आद्यमल तथा जीवत्व का आधार अविद्या है। उसके नाश में सबका नाश है। सूत्र—

साध्य वाक्य—

यापरी परमेश्वर तेयातें मायापारंगत करीति ।५७।

शब्दार्थ—यापरी—इस प्रकार अविद्या छेदकर, परमेश्वर—ईश्वर अवतार, तेयातें—उस विशेषज्ञानी को, मायापारंगत—माया से श्रेष्ठ, करीति—करते हैं।

भावार्थ—ईश्वर अवतार अपनी प्रसन्नता से विशेषज्ञानी को मायापारंगत करते हैं। अविद्या तथा आद्यमल का नाश हो जाने से अब उसे माया देख नहीं सकती। जैसे दूध में डाले हुए चने पानी का शोषण करते हैं, स्निग्धता का नहीं। वैसे ईश्वर स्वरूप में मिलने के पश्चात् माया से जीव का कोई संबंध नहीं रहता। सूत्र—

साध्याचियाप्राप्ति साधन निवर्ते ।५८।

शब्दार्थ—साध्याचियाप्राप्ति—साध्य मिलने पर, साधन—कारण, निवर्ते—समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—साध्य की प्राप्ति हो जाने पर साधन रूप ज्ञान-

शक्ति तथा चारों ज्ञानों की योग्यता का ईश्वर अवतार अपहरण कर लेते हैं। सूत्र--

परमेश्वर भक्तासि आपुली अनुभूति रति देति ।५९।

शब्दार्थ--परमेश्वर-ईश्वर अवतार, भक्तासि-भक्त को, आपुली-अपना, अनुभूति रति देति-स्वानुभूत आनंद देते हैं।

भावार्थ-ईश्वर अवतार भक्त को स्वानुभूत आनंद देते हैं, जिससे भक्त आनंदमय बन जाता है। जीव प्रायः अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये दूसरों को सुख पहुंचाते हैं। देवता का दिया हुआ सुख अनित्य होता है, किन्तु ईश्वर अवतार अवंचकता से उसे नित्यानंद देते हैं। सूत्र--

ज्ञानियासि ब्रह्मीभूत करीति ।६१।

शब्दार्थ--ज्ञानियासि-ज्ञानी को, ब्रह्मीभूत-ब्रह्ममय, करीति-करते हैं।

भावार्थ--ईश्वर अवतार ज्ञानी को ब्रह्ममय करते हैं, जैसे तेल और घी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ब्रह्म और मुक्त जीव परस्पर मिल जाते हैं। सूत्र--

ज्ञानियासि पाठीसि घालीति ।६२।

शब्दार्थ-ज्ञानयासि-ज्ञानी की,पाठीसि घालीति-ब्रह्मप्राप्ति करते हैं।

भावार्थ---ईश्वर अवतार ज्ञानी की रक्षा करते हैं-अर्थात् ज्ञानी को सांसारिक दुःखों से तथा अविद्या आदि बंधनों से छुड़ाकर ईश्वर अवतार अपनी शरण में लेकर शरणागत की रक्षा करके ब्रह्ममय करते हैं। (**पाठीसि घालीति**) यह मराठी भाषा

की लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है शरणागत की रक्षा करना। सूत्र--

ज्ञानियासि मोक्ष देति।६३।

शब्दार्थ–ज्ञानियासि–ज्ञानी को, मोक्ष–मुक्ति, देति–देते हैं।

भावार्थ---ईश्वर अवतार ज्ञानी के सब बंधन दूर करके उसे नित्य मोक्ष देते हैं, जहाँ से फिर वह संसार के जन्म-मरण रूप चक्र में नहीं आता। सूत्र--

ज्ञानिया ब्रह्मी मिसळें बुडी दे।६४।

शब्दार्थ---ज्ञानिया–ज्ञानी, ब्रह्मी–ब्रह्म में, मिसले–मिल जाता है, बुड़ी दे–आनंद में डूब जाता है।

ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप में पानी में तेल-बिन्दु के समान मिल जाता है तथा आनंदानुभव करता है। सूत्र--

भक्त भेदें अनुभवी कीं अभेदें अनुभवी ऐसा विकल्प तेथ करों नए।६५।

शब्दार्थ---भक्त–भक्त, भेदें–भिन्नता से, अनुभवी–अनुभव करता है, ऐसा–इस प्रकार की, विकल्प–कल्पना, तेथ–उसके विषय में, करों नए–करनी न चाहिये।

भावार्थ---ईश्वरस्वरूप में तन्मय होकर भक्त ईश्वरीय आनंद का अनुभव अपने को ईश्वर से भिन्न मानकर करता है अथवा ईश्वर मानकर करता है, इस प्रकार का तर्क उस विषय में नहीं करना चाहिये। सूत्र--

यापरी परमेश्वर श्रीचक्रधर जीवांतें उद्धरीति।६६।

शब्दार्थ---यापरी–पूर्वोक्तत प्रकार से, परमेश्वर–ईश्वर

अवतार, श्रीचक्रधर–भगवान् श्रीचक्रधर जी, जीवांतें–जीवों का, उद्धरीति–उद्धार करते हैं ।

भावार्थ––इस प्रकार सृष्टि में अवतार धारण करके जीवों को अपना ज्ञान तथा प्रेम देकर ईश्वर अवतार जीवों को नित्य मुक्ति देते हैं । श्रीचक्रधर स्वामी आदि पांचों ईश्वर अवतार जीवों का उद्धार करते हैं ।

महावाक्य

प्रकरणवश––भगवान् श्रीचक्रधर जी वेलापुर में रहते थे । उन्होंने एक दिन श्रीनागदेव जी से पूछा "नागदेव ! आप अपना परम सिद्धान्त जानते हैं ?" नागदेव जी ने कहा, "भगवन् ! मैं जानता तो नहीं, किन्तु आप कृपा करेंगे तो जान सकूंगा ।" भगवान् श्रीचक्रधर जी ने कहा, "अजी, आप जानकर भी अनजान क्यों बनते हैं ? चैतन्य देवता से परे चक्राख्य जो स्वरूप है, वही आपका प्राप्ति स्थान है ।" इस प्रसंग पर भगवान् ने श्री नागदेव जी के प्रति महावाक्य प्रकरण का निरूपण किया ।

प्रकरण संबंध––उद्धरण की समाप्ति पर लिखा है कि ईश्वर जीवों का उद्धार करता है । वह ईश्वर कैसा है, यह समझाने के लिये उद्धरण के आगे महावाक्य लिखे हैं । सूत्र––

जीवप्रपंचव्यतिरिक्त सच्चिदानंदस्वरूप परमेश्वर एक आत तो सर्वशक्तियुक्त ।१।

शब्दार्थ––जीवप्रपंचव्यतिरिक्त–जीव तथा प्रपंच के अतिरिक्त, सच्चिदानंदस्वरूप–सत् + चित् + आनन्द स्वरूप वाला,

परमेश्वर—त्र्यंश ईश्वर, एक आत—एक है, तो—वह, सर्वशक्ति-युक्त—सर्वशक्तिमान् है ।

भावार्थ——जीव तथा प्रपंच (जड़प्रकृति) से भिन्न सच्चिदानन्द (त्र्यंश) स्वरूप एक है । वह परमेश्वर है और वह सर्व शक्तिमान् है ।

भगवान् श्रीचक्रधर जी द्वैतवादी हैं । उन्होंने जीव, देवता, प्रपंच तथा ईश्वर ये चार स्वतंत्र, अनादि पदार्थ माने हैं । इस प्रकरण में उन चारों के लक्षण किये हैं । इस पहिले सूत्र में ईश्वर का लक्षण है ।

"**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।**" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती । क्या किसी भी प्रकार के ज्ञान से मुक्ति मिलेगी ? नहीं, घट, पट तथा देवता के ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती । ईश्वरीय विशेषज्ञान से मुक्ति मिलती है । प्रथमारंभ में उस ज्ञान का देना संभव नहीं, अतः शब्दज्ञान देते हैं । अव्यक्त देवता तथा जीवों का ज्ञान अनुषंगिक है, उद्धारक नहीं । '**ज्ञान-मोचक**' अर्थात् ज्ञानमोचक है । अतः अवतार धारण करके ईश्वर जीवों को ज्ञान देते हैं । सूत्र——

जीव का लक्षण——

नित्य केवळ अनादि अविद्यायुक्त वस्तु एक आत ते जीव शब्दें बोलिजे ।२।

शब्दार्थ——नित्य—अविनाशी, केवल—अविद्यायुक्त केवल, अनादि—आदि रहित, अविद्यायुक्त—महार्णव अविद्यायुक्त, वस्तु एक आत—एक पदार्थ है, ते—उसे, जीव शब्दे बोलिजे—जीव

कहते हैं।

भावार्थ——जीव एक स्वतःसिद्ध नित्य, केवल, अनादि तथा अविद्यायुक्त पदार्थ है। सूत्र——

विश्वरूपाचिये ठाउनि मृत्तिकापर्यन्त प्रपंच बोलिजे ।३।

शदार्थ——विश्वरूपाचिये—विश्वरूप देवता की मूर्ति से, ठाउनि—लेकर, मृत्तिकापर्यंत—स्थूल परमाणु तक,प्रपंच बोलिजे—प्रपंच है।

भावार्थ——आठों महद्भूत कारण रूप से भैरव-स्वरूप में विद्यमान हैं। उनकी विस्तार पूर्वक रचना विश्व की मूर्ति से लेकर स्थूल परमाणु तक की गई है। ब्रह्मांडान्तर्गत भैरव-स्वरूप तक पृथ्वी की रचना है। सूत्र——

व्यतिरिक्त म्हणिजे वेगळा ।४।

शब्दार्थ——व्यतिरिक्त—अतिरिक्त,म्हणिजे—अर्थात्,वेगला—भिन्न।

भावार्थ——व्यतिरिक्त अर्थात् भिन्न। ईश्वर इनसे भिन्न है। तो क्या उसका स्वरूप व्यापक नहीं ? स्वरूप तो व्यापक है, परन्तु भिन्न कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे पानी वस्त्र में रहने पर भी अलग होता है, वैसे ईश्वरस्वरूप इनमें व्यापक होकर भी 'पद्म-पत्रमिवाम्भसा' अलग रहता है। वह विरुद्धधर्मी है। सूत्र—

त्र्यंश का लक्षण——

सत् शब्दें ब्रह्मबोलिजें, चित् शब्दें माया बोलिजे, आनंद शब्दें ईश्वरबोलिजे, ब्रह्म माया ईश्वर ऐसा त्र्यंश परमेश्वर एक आत ।५।

भावार्थ--सत् अर्थात् ब्रह्म । चित् अर्थात् माया। आनंद अर्थात् ईश्वर। ब्रह्म, माया तथा ईश्वर ये तीन स्वरूप जहां व्यापक हों, उसे त्र्यंश कहा है। सूत्र--

शक्ति शब्दें सकळही देवता, सकळही गुण, सकळही धर्म, ज्ञान, विज्ञान, हे सर्व शक्ति शब्दें बोलिजेति ।६।

भावार्थ--शक्ति शब्द सब देवताएं, गुण, धर्म, ज्ञान तथा विज्ञान का द्योतक है। सूत्र--

युक्त म्हणिजे एतत् सहित ।७।

भावार्थ--युक्त अर्थात् इनके सहित। ईश्वर सब शक्तियों से युक्त होता है। सूत्र--

सौन्दर्य, लावण्य, औदार्य, सौभाग्य, दया, मया, कृपा, करुणा एवमादिक अनंत गुण बोलिजेति ।८।

भावार्थ--गुण अर्थात् आल्हाद दायक शक्ति।

फूल में सुगंध होती है, परंतु वह फूल से अलग होकर भी अपना कार्य करती है, उसी प्रकार ईश्वर के गुण उसकी इच्छानुसार उससे अलग होकर अपना कार्य करते हैं। सौन्दर्य अर्थात् सुन्दरता। स्वरूप की आभा को लावण्य कहा है।

पात्र तथा अपात्र, संभव तथा असंभव इनका विचार किये बिना देने का नाम **औदार्य** है। स्वल्प से गुण पर अति मुग्ध हो जाने का नाम **सौभाग्य** है। **मया** अर्थात् जो दुःख दूर करे। **दया** अर्थात् जो सुख दे। **कृपा** अर्थात् कोई निमित्त न होने पर भी दुःख दूर करके जो सुख दे। करुणा अर्थात् जो प्रेम दे। इस प्रकार अनंत गुण ईश्वर स्वरूप में होते हैं। सूत्र--

नित्यत्व व्यापकत्व सर्वात्मकत्व सर्वातीतत्व सर्वकर्तृत्व सर्वसाक्षित्व एवमादिक अनंत धर्म बोलिजेति ।८।

भावार्थ—ईश्वर स्वरूप नित्य है । एकदेशीय होगा ? नहीं, वह व्यापक है। पीडक होगा ? नहीं, सर्वात्मक है । आसक्तिवाला होगा? नहीं, वह सर्वातीत है । अकर्ता होगा ? नहीं, वह सर्वकर्ता है । कर्तृत्व का अभिमान होगा ? नहीं, वह सर्वसाक्षी है । इस प्रकार ईश्वर में अनंत धर्म हैं ।

निर्वचन

प्रकरणरश—श्रीचक्रधर स्वामी डोमेग्राम में निवास करते थे । श्रीनागदेव जी कुछ सामान लाने निधिवासा गये हुए थे । भगवान् की उपदेश सुनाने की उत्कट इच्छा हुई । उनके पास एक प्रह्लाद बाई वृद्धा बैठी थी । भगवान् ने उससे पूछा "देवि ! क्या आप देव को,जानती हैं ।" उसने कहा "मैं अज्ञ ईश्वरस्वरूप को कैसे जान सकती हूं ?" इस प्रसंग पर भगवान् ने उसे निर्वचन प्रकरण का निरूपण किया । श्री नागदेव जी के आने पर तथा उनकी प्रार्थना पर यही प्रकरण भगवान् ने उनसे भी कहा । सूत्र—

आनंद शब्दें ईश्वर बोलिजे ।

आनंद शब्द से ईश्वर का निर्देश किया गया है । सूत्र—

आनंद तो ।१। ब्रह्म तो ।२। अच्युत तो ।३। अविक्रिय तो।४। अव्यक्त तो ।५। अमूर्त तो ।६। शुद्ध तो ।७। बुद्ध तो ।८। नित्यमुक्त तो ।९। निरभिमान तो ।१०। पर तो ।११।

अर्थ—तो अर्थात् वह। वह आनंद है। ब्रह्म है। अच्युत है (जिसका पतन न हो, उसे अच्युत कहा है)। अविक्रिय है (विकार रहित)। वह अव्यक्त है। अमूर्त है (जिसकी गणना न हो सके उसे अमूर्त कहा है)। शुद्ध है। बुद्ध है। नित्यमुक्त है। निरभिमान है। और पर अर्थात् सर्व श्रेष्ठ है। सूत्र—

परसाक्षित्व ऐसाहि धर्म तेथ नाहीं ।१२।

अर्थ—साक्षित्व धर्म भी उसमें नहीं है।

केवळ तो ।१३।

वह केवल है।

केवळीं च नित्य संबंधें माया असे ।१४।

ईश्वर के केवल स्वरूप में ही नित्य संबंध से माया रहती है।

माया जेथ संबंधातें पातली असे तेथचि न पवे ।१५।

यद्यपि माया नित्य संबंध से ईश्वर में रहती है, किन्तु ईश्वर उसमें नहीं होता।

ऐसीचि वस्तु ते ।१६।

वह ईश्वर ऐसी ही वस्तु है।

ऐश्वर्यादि करौनि सकळही धर्म माया संबंधेंचि तेथ।१७।

ऐश्वर्य आदि सभी धर्म माया संबंध से ही वहां रहते हैं।

सर्वात्मक तो ।१८। सर्वातीत तो ।१९। सर्वकर्ता तो ।२०। सर्वसाक्षी तो।२१। ऐसा परमेश्वर एक आत ।२२।

अर्थ—वह सर्वात्मक है। सर्वातीत है। सर्वकर्ता है। सर्वसाक्षी है। एवंगण-धर्मों से युक्त एक ईश्वर स्वरूप है।

असतिपरि

असतिपरि का प्रकरणवश—

भगवान् श्रीचक्रधर जी 'बेलापुर' में आदित्य मन्दिर में निवास करते थे। एक दिन भगवान् ने नागदेव जी से कहा—"नागदेव, आप हमसे असन्निधान धर्म सुन लें।" नागदेव जी ने उत्तर में कहा, "प्रभो! ईश्वर के बिना भी क्या कोई धर्म हो सकता है?" श्रीचक्रधर जी ने कहा, "आपका कहना यथार्थ है, किन्तु उसके रक्षक हम हैं।" प्रत्युत्तर सुनकर नागदेव जी ने कानों पर हाथ रखकर कहा—स्वामिन्! मुझसे यह न होगा पानी के बिना मछली के समान भक्त भगवान् के वियोग में जी नहीं सकता।" तब श्रीचक्रधर जी ने माहिमभट्ट से कहा, "हम इन्हें कुछ सुनाना चाहते हैं परन्तु यह सुनना नहीं चाहते।" माहिमभट्ट ने नागदेव जी से कहा "आप सुनिये तो? भगवान् वही बतलायेंगे, जो जीवात्मा कर सकता है।" यह सुनकर नागदेव जी तिनका लेकर भूमि पर रेखाएं खींचने लगे। उस समय श्रीचक्रधर स्वामी ने कहा—'**हातीं काडी धरी जे, हाही आदि करुनि एक विकार च कींगा।**' अर्थात् हाथ में तिनका लेना यह भी एक प्रकार का विकार ही है। तिनका फेंकर नागदेव जी चुपचाप बैठ गये। तब माहिमभट्ट जी ने फिर कहा—"नागदेव जी, सुनिये भगवान् कुछ उपदेश सुनाना चाहते हैं।" जब नागदेव जी सामने आकर बैठे तो भगवान् श्रीचक्रधर जी ने सात दिन तक असतिपरि का उपदेश किया।

असतिपरि का सारांश—ईश्वरीय अच्युतपद को प्राप्त

करके उसके नित्यानंद का अनुभव लेना यही जीवन का ध्येय है। किन्तु यह आनंद देवताओं के बहिर्याग अथवा अन्तर्याग के आचरण से नहीं मिलता। ज्ञान और प्रेम इन दो उपायों से ही वह आनंद प्राप्त होता है। ज्ञान ईश्वर का बहिर्याग है और प्रेम अन्तर्याग। देवताओं के अन्तर्याग के समान ईश्वर का 'प्रेम' मार्ग सुगम है।

इसमें प्रेमी (भक्त) को शारीरिक कष्ट उठाने नहीं पड़ते। ईश्वरीय प्रेम मिल जाने पर भक्त का उद्धार निश्चित है। किन्तु ज्ञानमार्ग ऐसा नहीं है। देवताओं के बहिर्याग के समान ईश्वर का बहिर्याग अर्थात् ज्ञानमार्ग ज्ञानी के लिये अति कष्टदायक है।

ज्ञान की प्राप्ति मात्र से ज्ञानी को कोई लाभ नहीं। क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उसे अपने कर्म और मलों का नाश करने के लिये अतीव कष्ट साध्य कठिनातिकठिन असतिपरि का आचरण करना पड़ता है। जिससे ज्ञानी यथाक्रम शाब्द, अपरोक्ष (प्रत्यक्ष), सामान्य तथा विशेष ज्ञान को प्राप्त करके ईश्वर के नित्यानंद को प्राप्त करता है। सारांश यह कि जैसे प्रेमी के बैठे बिठाये कर्म और मल नाश हो जाते हैं वैसे ज्ञानी के नहीं।

असतिपरि के **'विकार विकल्प शून्य'** इस पहले वचन में विकार शब्द से इन्द्रिय दमन करने को कहा है। तथा विकल्प शब्द से संकल्प विकल्पात्मक मानसिक कर्मों का और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर इनका त्याग बतलाया है। **'स्वभावमात्रें'** इस दूसरे वचन में शरीर के 'क्षुधा पिपासा, मल-मूत्र, भय निद्रा, शीत उष्णता' इन आठ स्वभावों का संयम बतलाया है।

'निरालंबी' इस चौथे वचन में निरर्थक आसक्ति का त्याग

तथा **'देवता स्मरणें'** इस पांचवे वचन में चारों ओर से मन को हटाकर ईश्वर का आजन्म स्मरण करना बतलाया है। यदि ईश्वर के नाम पर संन्यास लेकर भी **'इद मस्मदीयम्'**--अर्थात् यह मेरा है' की भावना बनी रहती है, तो उस अनुसरण का कोई मूल्य नहीं।

असतिपरि में महावाक्य आदि सभी प्रकरणों का समावेश हो सकता है,किन्तु उनमें असतिपरि का समावेश नहीं हो सकता। अतः सबका मूल यही है। सूत्र--

विकार विकल्प शून्य ।१। स्वभावमात्रें ।२। निरालंबी ।३। देवतास्मरणें ।४। जो जन्मक्षेपी ।५। तेयासि परमेश्वर पुनरपि आपुला संबंध देति ।६।

अर्थ--असतिपरि अर्थात् मुमुक्षु का जीवन बिताने का ढंग। इस प्रकरण का विस्तारपूर्वक वर्णन आचार प्रकरण में है। मुक्ति पाने के लिये अनुसरण के बाद जिन नियमों का अर्थात् 'आचार-धर्म का पालन करना होता है, उसे 'असतिपरि' कहा है।

मनुष्य को अपना जन्म अनासक्तियोग से बिताना चाहिये, विकार (इन्द्रिय धर्म)तथा विकल्प (मनो धर्म) का नाश करना चाहिये, देह के आठों स्वभावों पर संयम रखना चाहिये, ईश्वर के अतिरिक्त किसी को आश्रय न करना चाहिये और आठों प्रहर ईश्वर का स्मरण करना चाहिये। आजन्म जो इन नियमों का पालन करता है, उसे ईश्वर अवतार अग्रिम जन्म में दर्शन देकर मुक्ति देते हैं।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 120753

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving